देश-दीपक

लेखक

श्री बलदेवप्रसाद शुक्ल

साहित्यरत्न काव्यतीर्थ

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

इलाहाबाद

[मूल्य २)

प्रकाशक
धर्मचन्द्र नारंग
हिन्दी भवन
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद ३

मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी भवन मुद्रणालय
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद ३

प्रवेशिका

हमारा देश रत्नों की खान है। इसकी रत्नगर्भा धरित्री ने जितने नर रत्नों को अब तक उत्पन्न किया है उनकी गिनती नहीं की जा सकती। यहीं सभ्यता के आदि युग में महर्षियों ने अध्यात्म तत्त्व का साक्षात्कार किया। उनकी समता भूमण्डल मे कहाँ ? जिन दिनों संसार के अन्य देश असभ्य वर्बर थे, उन्हीं दिनों हमारा देश भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त कर चुका था। उसी ने पहले पहल संसार को ज्ञान और विज्ञान का संदेश सुनाया। उसी ने धर्म का पथ दिखलाया। आगे चल कर जब उसके बुरे दिन आये तब भी उसकी दिव्य ज्योति मन्द न हुई। उसके प्रकाश में विचलित मानवता को अपना पथ दिखलायी पड़ा। उसने अपने खोये हुए गौरव को प्राप्त करने का प्रयत्न कभी बन्द न किया। आज शताब्दियों के अनन्तर वह अपने भावी उत्कर्ष के द्वार पर फिर से आ खड़ा हुआ है।

जिन वन्दनीय विभूतियों के द्वारा हमने इस लम्बे जीवन की यात्रा में सम्बल पाया है, उनके पुनीत चरित पढ़ने और सुनने से विशेष स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है। अगले पन्नों मे उसी के सञ्चय का प्रयास किया गया है। विश्वास है ये पुरातन और नवीन चरित्र पाठक के मन में श्रद्धा और उत्साह का सञ्चार करेंगे। उसको अपने कर्म-पथ में दृढ़ अविचल और सफल बनायेंगे।

—लेखक

सूची

बुद्धदेव

गोरा रंग। भरा शरीर। लम्बा डील। घुटनों को छूते हुए बड़ी बड़ी उँगलियों वाले हाथ। चौड़ी छाती। उभड़ी गरदन। चौड़ा माथा। घुँघराले बाल। दूर से ही अपनी ओर बरबस खींचने वाला प्रसन्न और शान्त मुख। ऐसा था उसका रूप। उसी ने पहलेपहल सिखाया था कि सभी प्राणियों के साथ प्रेम और दया के साथ व्यवहार करो। कोई ढाई सहस्र बरस पहले उसकी यह अमर वाणी गूँजी थी। और आज भी कोटि कोटि जन उसके नाम की माला नित्य जपते हैं। उसके उपदेशों को पढ़ या सुन कर मन में शान्ति पाते हैं। उसके दिखलाये हुए मार्ग पर चलते हैं। भूमण्डल के लगभग आधे नर-नारी उसके अनुयायी कहलाने में अपने को धन्य मानते हैं।

और वह महापुरुष हमारे ही देश में जन्मा था, बहुत दिन पहले। जैसे आजकल प्रदेश होते हैं वैसे ही उन दिनों महाजनपद थे। उनमें काशी और कोशल बहुत प्रसिद्ध थे। कोशल का मुख्य नगर था श्रावस्ती। अब उसके खँडहर सहेठ-महेठ में मिलते हैं। ये गाँव उत्तर प्रदेश के गोंडा-बहराइच जिलों की सीमा पर हैं। कोशल के पूरब में मल्ल और वृजि राष्ट्रों के सङ्घ थे। इनका शासन-प्रबन्ध जनतन्त्र प्रणाली से होता था। मल्लों के सङ्घ का अधिकार उस क्षेत्र पर था जो अब उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत गोरखपुर-देवरिया जिलों में है। कोशल के उत्तर शाक्यों का सङ्घराज्य था।

रोहिणी नदी के पच्छिम कपिलवास्तु उसकी राजधानी थी। इस नगर का अवशेष आजकल नैपाल राज्य की दक्खिणी सीमा के पास गोरखपुर जिले में मिलता है। यह श्रावस्ती से साठ मील पूरब और काशी से सौ मील उत्तर था। रोहिणी के पूरब कोलिय क्षत्रियों का देवदह नगर था। जिस समय की चर्चा चल रही है उस समय शाक्यों के सङ्घराष्ट्र के प्रधान वा राजा थे शुद्धोदन। उनके दो रानियाँ थीं—महामाया और महाप्रजावती गौतमी। वे दोनों बहिनें कोलिय राजकुल की थीं।

शुद्धोदन का दूसरा पन बीतने को आया। उन्हें सन्तान का मुँह देखने का सुख नहीं मिला। बहुत दिन इसी प्रकार आशा मे ही बीते। अन्त में महामाया की कोख के सफल होने के दिन आ पहुँचे। उन्हीं दिनों उसने अपनी बहिन गौतमी के साथ मायके देवदह जाने का विचार किया। वहाँ पहुँचने के पहले ही मार्ग में लुम्बिनी बन पड़ता था। इन दिनों लुम्बिनी को रुम्मिनदेई कहते हैं। वह उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले मे, नेपाल की तराई पर है। वहीं महामाया को प्रसव-वेदना हुई। वह शाल के पेड़ के नीचे ठहर गई। कुछ काल बीतने पर उस वनस्थली में बड़ा ही सुन्दर शिशु किलक उठा। जङ्गल में मङ्गल होने लगा। ईसा-पूर्व ६२३ वर्ष की वैशाखी पूर्णिमा पूर्णकाम हुई। रानी के अनुचरों ने देवदह से मुँह फेर लिया। वे उसे ले कर कपिलवास्तु लौट आये। राजधानी में घर-घर आनन्द-बधाइयाँ बजने लगीं। उछाह की धूम मच गयी। राजभवन के भाग जगे। शुद्धोदन के पैर पृथ्वी पर न पड़ते। आनन्द-के दिन आये। पाँचवें दिन संसार ने जाना

कि उस शिशु का नाम है सिद्धार्थ। परन्तु महामाया के भाग में पुत्र का सुख भोगना बदा न था। वह सात दिन का शिशु छोड़ कर चल बसी। तब गौतमी उनको पालने-पोसने लगी। उसकी देखरेख मे गौतम सिद्धार्थ दूज के चाँद की नाईं खिलने लगे। राजा ने उनको सुख पहुँचाने के लिए कुछ उठा न रखा।

इस प्रकार सिद्धार्थ कुछ बड़े हुए। शुद्धोदन ने उनकी शिक्षा के लिए उचित प्रबन्ध कर दिया। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उसे देख कर उनके गुरु दाँतों तले उँगली दबाते थे। धीरे धीरे गौतम ने उस समय के राजकुमार के लिए जो कुछ जानना चाहिये था वह सब पढ़ लिया। फिर उन्होंने अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखा। धनुष चलाने मे वे अर्जुन के समान दक्ष निकले। उनकी बराबरी करने वाला कोई न था। यह सब करते हुए भी गौतम का मन किसी काम में नहीं लगता था। वे सदा किसी गहरी चिन्ता में डूबे रहते। यह देख शुद्धोदन ने उनके मन बहलाने का प्रबन्ध किया। उनके चारो ओर आनन्द ही आनन्द दिखलायी पड़ने लगा। वे सदा प्रसन्न रहने वाले युवक और युवतियों से घिरे रहते। दुःख, विषाद, चिन्ता और अभाव के दृश्य उनकी आँखों के सामने न आते। फिर भी राजकुमार के हृदय की कली न खिलती। राजा शुद्धोदन भी हारने वाले न थे। उन्होंने बड़ी सावधानी से काम लिया। वे कुमार के उदासीन मन को संसारी बनाने के लिए नित्य नये उपाय काम मे लाते। उन दिनों कोलिय राजकुमारी यशोधरा के रूप और गुणों की धूम थी। उसके समान सुन्दरी दूसरी न थी। शुद्धोदन ने उसी के साथ सिद्धार्थ का

विवाह कर दिया। राजभवन को विलास की सभी सामग्रियों से भर दिया। सिद्धार्थ विलास का जीवन विताते, परन्तु उनका मन उसमें रमता न था। वे सदा सोचा करते संसार में दुःख ही दुःख क्यों है? क्या इससे छुटकारा न मिलेगा? क्या कभी रोग और बुढ़ापा, जन्म और मरण से पिण्ड न छूटेगा? सुख-सुविधा की कमी न थी। फिर भी वे पराये दुःख से वरावर तड़पते रहते।

इस प्रकार अपने सुख और दूसरों के दुःख के वीच उनका मन निरन्तर व्याकुल रहता। राजा शुद्धोदन के बहुतेरा सचेत रहने पर भी कोई न कोई वात हो जाती जिससे सिद्धार्थ का मन संसार की वातों से उचट जाता! एक दिन राजा ने उन्हें कपिल-वास्तु में घूमने के लिए भेजा। राजधानी को सजाने और उल्लास के रङ्ग में रँगने के लिए पूरी शक्ति लगा दी गयी थी। फिर भी न जाने किधर से एक बुड्ढा आ निकला। उसकी देह में हड्डियाँ ही हड्डियाँ थी। कमर झुक गयी थी। वह लाठी के सहारे किसी प्रकार धीरे-धीरे चल रहा था। कुमार ने सारथी से पूछा—यह कौन है? इसकी यह दशा कैसे हुई? सारथी को वतलाना ही पड़ा—एक दिन सव का बुढ़ापा आता है। उस समय सभी जन ऐसे ही कष्ट से दिन काटते हैं। राजकुमार सोच में पड़ गये। उनका रथ कुछ आगे वढ़ा। देखते क्या हैं—कोई रोगी मनुष्य वेदना से पड़ा कराह रहा है। सिद्धार्थ ने उसके कराहने का कारण पूछा। सारथी ने कुछ टालना चाहा। गौतम पीछे पड़ गये। उसने विवश हो वतलाया—यह रोग के कष्ट से छटपटा रहा है। कुमार ने पूछा—क्या कभी न कभी रोग से सव की

यही दशा होती है? सारथी ने सिर हिलाया और स्वीकार किया—हाँ, रोग से कौन बचता है! सिद्धार्थ चिन्ता में विलीन हो गये। रथ आगे बढ़ा। राजा शुद्धोदन ने चाहा था कि राजकुमार अपनी आँखों संसार का सुखमय जीवन देखें। परन्तु संसार तो अपने विषम रूप मे नित्य चलता है। वह उस दिन उसी रूप में कुमार के सामने क्यों न आता? कुछ ही आगे बढ़े होंगे कि कुमार का ध्यान टूटा। उन्होंने देखा कुछ लोग टिकठी पर किसी का शव रखे जा रहे हैं। पीछे चलने वाले उदास मुँह से 'राम नाम सत्य है' कहते बढ़ रहे थे। सारथी ने अपना माथा ठोंका। क्या आज ही सब कुछ होना था? उधर सिद्धार्थ पूछ ही तो बैठे—यह सब क्या है? सारथी कैसे न बतलाता कि जीवन का अन्त यही है। इस पर कुमार चिन्ता के सागर के तल में जा पहुँचे। उसी समय सामने से एक संन्यासी आता दिखलायी पड़ा। उसके मुँह पर हँसी खेल रही थी। सिद्धार्थ ने समझा कि संसार को छोड़ने से उल्लास मिल सकता है। इतने मे सारथी ने घोड़ों की रास मोड़ी। रथ राज-प्रासाद में घुसा। राजकुमार सिद्धार्थ ने उस दिन संसार के वास्तविक रूप को पहचाना था। अब उनका मन किसी भी प्रकार राज-भवन में न बहलता। उस पिंजड़े से उड़ने के लिए उनका मन-पंछी व्याकुल हो उठा।

उधर उनको गृहस्थी का जीवन आगे बढ़ रहा था। राजकुमार सिद्धार्थ का अट्ठाईसवाँ वर्ष था। रानी यशोधरा को कुछ ही दिनों मे नारी का सबसे बड़ा सुख मिला। उनकी गोद भर गयी। राजभवन में आनन्द-उत्सवों का ताँता लग गया। जिधर देखो

उधर उल्लास ही उल्लास। शुद्धोदन ने सोचा कि अब तो सिद्धार्थ का बन्धन और भी दृढ़ हुआ ! किन्तु सिद्धार्थ का मन विद्रोह कर उठा। दिन जैसे-तैसे बीता। रात आयी। दिन भर के आनन्द में डूबा राजभवन सो गया। किन्तु गौतम की आँखों में नींद कहाँ ? उनके मन में बैठ गया कि बस, अब एक घड़ी भी इस प्रासाद में नहीं रहना चाहिये। वे उठे। चलने ही को थे कि मोह ने आ घेरा। सोचा—चलना तो है ही, एक बार, बस अन्तिम बार उसका भोला मुँह देखता चलूँ। दबे पाँव यशोधरा के भवन में घुसे। दीपक के मन्द आलोक में देखा उसका सुन्दर मुख। फिर देखा उसके पास ही लेटा हुआ दुधमुँहा नवजात शिशु। मन उसकी ओर खिंचा। उसका मुँह चूमने को बढ़े। इतने में विवेक ने धक्का दिया। सिद्धार्थ ने झट उधर से आँखें फेर लीं। जी कड़ा किया। तुरंत चुपके से बाहर निकल आये।

आधी रात का सन्नाटा। आकाश में आषाढी पूनों का चाँद विहँस रहा था। सिद्धार्थ ने सारथी छन्दक को उसी समय जगाया। उससे कहा—कण्ठक को कस लाओ। छन्दक ने आज्ञा का पालन किया। देखते देखते सिद्धार्थ कण्ठक घोड़े की पीठ पर और उनके पीछे-पीछे छन्दक। सारा नगर सपनों के लोक में भूला-भटका था। किसी को इस 'महाभिनिष्क्रमण' की भनक तक न मिली। रात बीतने के पहले सिद्धार्थ कोलिय देश की अनामा नदी के किनारे पहुँचे। वहाँ वे घोड़े से उतर पड़े। उन्होंने कोष से खड्ग निकाला। उससे अपने सुगन्ध-सिक्त केश काट दिये। राजसी वस्त्र और अलंङ्कार उतार दिये। भगवा वेश धारण

किया। छन्दक को घोड़ा दे कर राजधानी लौटा दिया। आप अकेले नंगे पाँव आगे बढ़े। प्रभात की सुनहरी किरणों के प्रकाश में कपिलवास्तु का राजभवन सूना दिखलायी पड़ा। छन्दक ने आ कर सिद्धार्थ के वैराग्य की सब बातें सुनायीं। राजपुरी में सर्वत्र हाहाकार मच गया।

परन्तु इस हाहाकार की गूँज उस सन्मार्ग में आगे बढ़ने वाले पथिक के कानों में न पहुँची। वह उस सत्य की खोज में निरन्तर आगे बढ़ रहा था जिसके मिलने पर संसार के दुःखों का अन्त हो जाय। इसके लिए उन्होंने राजसी जीवन को ठुकरा दिया। भिक्षा माँग कर जीवन बिताना आरम्भ किया। पहले-पहल उन्होंने जो भिक्षान्न खाया उससे जान पड़ा कि पेट का भीतरी भाग बाहर निकल आयेगा। पर सिद्धार्थ विचलित न हुए। उन्होंने मल्लों का देश पार किया। फिर वैशाली में प्रवेश किया। वहाँ से वे राजगृह गये। वहाँ उनके सौन्दर्य और तेजस्वी शरीर को देखते ही मगध-नरेश बिम्बिसार उनके ऊपर लट्टू हो गये। उन्हें अपना राज सौंपने लगे। परन्तु वह राज-वैभव उनके मन को लुभा न सका। वे मन की शान्ति की खोज में विद्वानों को ढूँढते। उन दिनों राजगृह में आलार कालाम और उद्दक (रुद्रक) नाम के दो प्रसिद्ध दार्शनिक रहते थे। सिद्धार्थ ने उनसे दर्शन का अध्ययन किया। किन्तु उस शास्त्रीय ज्ञान ने उनका मन न भरा। उनको शान्ति न मिली।

तब सिद्धार्थ वहाँ से आगे बढ़े। उस समय उनके साथ पाँच साधक हो लिये। वे भी सत्य ज्ञान की खोज करने निकले थे।

सब लोग गया पहुँचे । वहाँ निरञ्जना नदी के तट पर आसन जमा कर बैठ गये । उन्होंने सोचा कि शरीर को शुद्ध किये बिना सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता । वे बहुत ही थोड़ा भोजन करते । दिन-रात कठोर नियमों का पालन करते । वे इस प्रकार छः वर्ष तक आत्म-चिन्ता में लगे रहे । तप करते-करते उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया, हड्डियाँ निकल आयीं, आँखें धँस गयीं, खाल लटकने लगी । पेट पर हाथ रखते तो वह रीढ से छू जाता। रीढ पर हाथ लगाते तो वह पेट की खाल पर पहुँच जाता । एक बार शौच जाते समय वे अचेत हो कर गिर पड़े । बहुत देर पीछे वे सचेत हुए । इसी समय कुछ गाँव की स्त्रियाँ गाती हुई उस ओर से निकलीं जहाँ गौतम पड़े थे । उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो रही थीं। उनके कानों में उनके गीत के बोल धीमे-धीमे पहुँचे— अपनी बीन के तार ढीले न करो । ऐसा करोगे तो वह बजेगी ही नहीं । उन्हें इतना कसो भी न कि वे टूट जायँ । उन्होंने समझा कि मैंने अपने जीवन की वीणा के तार बहुत कस दिये, फिर भी आत्मज्ञान न पाया ।

बस, गौतम के ज्ञान की आँखें खुल गयीं । उन्हें भोजन को त्याग कर शरीर को गलाने की असारता समझ में आ गयी । उन्होंने उपवास और स्वल्पाहार छोड़ दिया । आसपास के गाँवों में जो मिलता उसे ग्रहण किया । धीरे-धीरे उनकी दुर्बलता दूर होने लगी । यह परिवर्तन देख उनके साथ के पाँचों तपस्वियों ने उन्हें त्याग दिया । वे लोग काशी की ओर चले गये । परन्तु गौतम अपने निश्चय से न डिगे ।

एक दिन गौतम पीपल के पेड़ के नीचे ध्यान लगाये बैठे थे। उसी समय समीप के भूस्वामी की पत्नी सुजाता वहाँ पहुँची। उसने मन्नत मानी थी कि पुत्र होने पर मैं वन-देवता को खीर खिलाऊँगी। वही मन्नत पूरी करने के लिए वह पायस लेकर अपनी सखी पराणा के साथ वन में पहुँची। उसने गौतम को ध्यान में मग्न बैठे देखा। समझा कि मेरी पूजा ग्रहण करने को वनदेव प्रकट हो गये हैं। बड़ी श्रद्धा से उन्हें पायस अर्पित की। गौतम ने उसे स्वीकार किया। उसके खाने से उनकी देह में बल आया। फिर वे पद्मासन लगा कर उसी पीपल के नीचे ध्यान करने लगे। उन्होंने पक्का निश्चय किया—चाहे मेरी खाल, नसें और हड्डियाँ नष्ट हो जायँ; चाहे सारा रक्त और मांस सूख जाय किन्तु मैं यहाँ से तभी उठूँगा जब मुझे पूरा ज्ञान हो जायगा। उनका मन एकाग्र हो गया। उस समय एक साथ सौ गाजों (वज्रों) के गिरने की घोर ध्वनि होती तो भी उनका ध्यान न टूटता। इसी बीच उनके मन को विकारों वा वासनाओं ने आ घेरा। उसके ऊपर 'मार' ने आक्रमण किया। गौतम का मन शान्त रहा। वह 'मार' की प्रेरणा से उत्पन्न विविध वासनाओं से न डिगा। 'मार' हार गया। अपना सा मुँह ले कर चला गया। उस दिन वैशाख की पूर्णिमा थी। उसी दिन सिद्धार्थ को ज्ञान हुआ। उन्होंने कहा—

इस संसार में अनेक जन्म ले कर मैं भ्रमण करता निरन्तर (शरीर रूपी) गृह-कारक को ढूँढता और बार-बार (जन्म लेने का) दुःख सहता रहा। अब मुझे वह गृह-कारक दिखलायी पड़

गया। अब फिर गृह करना (शरीर धारण करना) शेष नहीं रहा। मेरे सारे बन्धन टूट गये। गृह-कूट (घर रूपी शिखर) चूर-चूर हो गया। वासनाओं का क्षय (नाश) हो जाने से चित्त को निर्वाण मिल गया। उनके मन में बोध (ज्ञान) का उदय हुआ। वे बुद्ध (ज्ञानी) हो गये। उन्होंने धर्म का यह तत्त्व समझ लिया कि सीधा-सादा और सच्चा जीवन सब यज्ञों, शास्त्रों और तपों से बढ़ कर है। संयम के साथ सच्चा आचरण ही सद्धर्म है।

गौतम बुद्ध बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्व लाभ करके चुप न बैठे। वे अकेले अपने निर्वाण से तृप्त होने वाले जीव न थे। उनके जीवन का लक्ष्य था उत्थान और अप्रमाद—उद्यम करना और कभी ढिलाई न करना। उन्होंने संसार के सभी मनुष्यों को निर्वाण का यह मार्ग दिखलाने का निश्चय किया। इसी समय उन्हें अपने उन पाँच साथियों की सुध आयी जो उनको छोड़ कर चले गये थे। उन्होंने उनको ही सबसे पहले अपने ज्ञान का उपदेश देने का निश्चय किया। वे उनकी खोज में निकल पड़े। आजकल बनारस के समीप सारनाथ को उन दिनों इसिपत्तन कहते थे। वे पाँचों साधु उस समय वहीं मृगदाव आराम में थे। बुद्ध उनके पास पहुँचे। उन्हें समझाते हुए बोले—भिक्खुओ, संन्यासी को दो अन्तों (सीमाओं) का सेवन न करना चाहिये। वे दो अन्त कौन से हैं ? एक तो है काम और विषय सुख में फँसना, जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य और अनार्य है। दूसरा है शरीर को व्यर्थ कष्ट देना, जो अनार्य और अनर्थक है। इन दोनों अन्तों को त्याग कर तथागत (सम्यक् समझवाले बुद्ध) ने

मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम, बीच के. मार्ग) को अपनाया है, जो आँख खोलने और ज्ञान देने वाली है। यही बुद्ध के बतलाये सद्धर्म का सार है। इसका आशय यह है कि जीवन में अति न करो। न तो विषय-भोग में ही डूबे रहो और न संसार का सब कुछ त्याग कर व्यर्थ ही कष्ट सहो। दोनों के बीच का पथ अपनाओ। संयम के साथ सरल जीवन बिताओ। बुद्ध ने यह भी बतलाया कि निर्वाण पाने के लिए आठ बातों की आवश्यकता है। यही उनका दिखलाया 'अष्टाङ्गिक मार्ग' है। इसके अनुसार सम्यक् (यथार्थ, पूर्ण) उद्देश्य, सम्यक् भाषण, सम्यक् कार्य. सम्यक् जीवन, सम्यक् उद्योग, सम्यक् मनःस्थिति और सम्यक् ध्यान करने से जीवन-मरण का चक्कर छूटता और निर्वाण प्राप्त होता है। बुद्ध का यह सर्व-प्रथम उपदेश 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' कहा जाता है। इसके द्वारा उन्होंने धर्म का पहिया चलाया। वे पाँचों संन्यासी बुद्ध के शिष्य हो गये। उन्होंने सद्धर्म को अपनाया। यही सद्धर्म आगे चलकर बुद्ध के द्वारा प्रदर्शित होने के कारण बौद्ध धर्म कहलाया। राजकुल में ही रहते तो सिद्धार्थ चक्रवर्ती बनते। सम्भवतः पृथ्वी के अन्य राज्यों को जीतने के लिए अपने रथ का चक्र चलाते। अब बुद्ध होने पर उन्होंने धर्म-विजय करने का निश्चय किया। सारे संसार में अपने धर्म का ज्ञान प्रचलित करने की व्यवस्था की। उनके संन्यासी शिष्य भिक्षु कहलाये। उनको सङ्गठित रखने के लिए बुद्ध ने उनका संघ बना दिया। उनको आदेश दिया—भिक्षुओ, अब तुम जाओ। जन-हित के लिए घूमो। कोई भी दो भिक्षु एक ओर न जाओ।

बुद्ध स्वयं भी सद्धर्म का सन्देश घर-घर पहुँचाने के लिए निकले। वे केवल चौमासे में कहीं टिकते। वर्ष के शेष दिन निरन्तर भ्रमण करते। उनके धर्म की दीक्षा गृहस्थ और संन्यासी-साधु सभी ग्रहण करते। गृहस्थ बौद्ध 'उपासक' और विरक्त बौद्ध 'भिक्खु' (भिक्षु) कहे जाने लगे। ब्राह्मणों, सेठों, क्षत्रिय राजाओं सभी ने उनका धर्म स्वीकार किया। बड़े-बड़े विद्वान और पण्डित उनके अनुयायी हुए। गया के तीन काश्यप भाइयों के उनकी शिष्य-मण्डली में आते ही मगध का जन-समाज उनकी ओर बड़े वेग से खिंचने लगा। राजा बिम्बिसार ने उनसे दीक्षा ली। फिर कपिलवास्तु जा कर उन्होंने शुद्धोदन और शाक्य राज-पुरुषों को उपदेश दिया। फिर कुमार राहुल को प्रव्रज्या (संन्यास) का दान किया। वहीं शाक्य आनन्द उनका शिष्य हुआ। वह अन्त समय तक उनका प्रमुख सहचर रहा। इस प्रकार धीरे धीरे समस्त मगध, मल्ल, वृजि, लिच्छवि, शाक्य राष्ट्रों में बुद्ध की कीर्त्ति फैल गयी। यही नहीं; कौशाम्बी में भी उनका प्रभाव व्याप्त हुआ। आगे चल कर बुद्ध ने अपनी विमाता प्रजावती और पत्नी यशोधरा को भी दीक्षा दी। फिर अन्य स्त्रियाँ भी भिक्खुनी हुईं। उनका सङ्घ अलग बना। बुद्ध ने ऊँचे कहे जाने वाले लोगों को ही अपना शिष्य नहीं बनाया, अपितु समाज के नीचे स्तर के लोगों को भी अपनाया। उनका एक शिष्य था उपाली नाई, जो उनके शरीर-त्याग के पीछे सङ्घ का प्रधान बनाया गया। उन्होंने श्रावस्ती की चाण्डाल-कन्या प्रकृति को उपदेश दिया और भिक्षुणी सङ्घ में ग्रहण किया।

बुद्ध के उपदेशों से अनेक नर-नारी घर-बार छोड़ भिक्षु-भिक्षुणी हुए। किन्तु सभी ने वैराग्य का मार्ग नहीं अङ्गीकार किया। गृहस्थ उपासकों ने भी उनको शिक्षा-दीक्षा मानी। बुद्ध चाहते भी न थे कि सब गृहस्थ विरक्त हो जायँ। एक बार उनके पास श्रावस्ती का सेठ सुदत्त आया। वह बड़ा धर्मात्मा था। असहायों और अनाथों को अन्न दिया करता था। इससे अनाथ-पिण्डद कहा जाने लगा था। बुद्ध का उपदेश सुनने पर उसने कहा—भगवन्, आपके शिष्य गृह-त्यागी साधु-जीवन की शान्ति की बड़ाई और गृहस्थ-जीवन की अशान्ति की बुराई करते हैं। वे कहते हैं कि तथागत ने सब प्रकार की सम्पत्ति और विलास की वस्तुओं को छोड़ कर धर्म-राज्य की स्थापना की है तथा लोगों को निर्वाण का मार्ग दिखलाया है। हे प्रभो, मैं लोक-सेवा में लगा रहता हूँ। क्या मुझे कल्याण-प्राप्ति के लिए घर-द्वार, धन-सम्पत्ति और वाणिज्य-व्यवसाय को छोड़ कर विरागी होना चाहिये? बुद्धदेव ने समझाया—जो आर्य-मार्ग पर चलेंगे वही शान्ति पायेंगे। जिन्हें ऐश्वर्य का मद चढ़ा है, उनके लिए उसका त्याग ही श्रेयस्कर है; किन्तु जो धन में आसक्त नहीं, जो प्रसन्न-चित्त से उसे लोक-हित के लिए लगाते हैं, उन्हें उसे छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। मेरी बात सुनो। तुम मर्यादा के साथ अपने स्थान में रहो। अपनी शक्ति के अनुसार व्यवसाय और धन बढ़ाओ। मेरा धर्म किसी का घर नहीं छुड़ाता। मेरा धर्म अहङ्कार, मलिनता और भोग-विलास को छोड़ कर सन्मार्ग पर चलने के लिए लोगों का आवाहन करता है।

ऐसी लोक-हित की भावना को पुष्ट करते हुए बुद्ध ने उत्तरापथ के सभी जनपदों को सद्धर्म का मर्म समझाया। वे अस्सी वर्ष के हो रहे थे। उन्हें अन्तिम समय समीप जान पड़ा। उन्होंने आनन्द से कहा—मेरे परिनिर्वाण की शुभ घड़ी निकट आ गयी है। यह सुनते ही आनन्द की आँखों में विषाद के आँसू छलछला आये। उसका गला भर आया। वह बोला—भगवन् जब तक आप भिक्खु-सङ्घ को ठीक पथ पर नहीं पहुँचा देते तब तक आशा की जाती है कि देह न छोड़ेंगे। बुद्ध गम्भीर स्वर में बोले—आनन्द, भिक्षु-सङ्घ को मुझसे क्या आशा है? मैंने धर्म का स्पष्ट उपदेश कर दिया। तथागत के धर्म में कोई गाँठ वा उलझन नहीं। अब तुम्हीं अपने अवलम्ब बनो। किसी दूसरे की आशा न करो। आप ही अपने लिए प्रदीप बनो। धर्म ही दीप है उस दीप को दृढ़ हाथ से पकड़ो। सत्य को सहायक बना निर्वाण के मार्ग को खोजो। आनन्द, यह मत समझो कि अपने लिए स्वयं प्रदीप और अवलम्ब होना असम्भव है। सङ्घ के भिक्षु धर्म-साधना के द्वारा अपने अन्तर के निगूढ़ प्रदेश में रहने लगें तो वे दैहिक क्लेश तथा मार और तृष्णा (प्राप्ति के लिए आकुल करने वाली तीव्र इच्छा) से उत्पन्न सभी दुःखों से बच सकेंगे। इस प्रकार, आनन्द और अन्य शिष्यों ने तथागत के मार्ग का सच्चा रूप देखा।

मल्लों के सङ्घ में बहुत स्थानों में घूमते हुए बुद्ध अपनी शिष्य-मण्डली के साथ पावा पहुँचे। वहाँ चुन्द लोहार ने उनको आवभगत की। कहते हैं उसने भोजन में सूअर का मांस

भी खिला दिया। कुछ लोगों का विचार है कुकुरमुत्ता से बना पदार्थ खिलाया। जो हो, बुद्ध उसे पचा न सके। उन्हें रक्तातिसार हो गया। बड़ा कष्ट मिला। पावा से कुशीनगर गये। वहाँ मल्ल गणतन्त्र की राजधानी थी। आजकल वह कसिया कहलाता है। उत्तर प्रदेश के पूरबी जिले देवरिया में है। मार्ग में उन्हें चिन्ता हुई कि चुन्द के प्रति लोग रुष्ट हो सकते हैं। जान पड़ता है उसको बचाने के विचार से उन्होंने आनन्द से कहा—चुन्द के मन मे कहीं कोई शङ्का न उत्पन्न करे कि तेरे भोजन से बुद्ध का निर्वाण हो गया। आयुष्मान् चुन्द से कहना कि मेरे लिए तेरा और सुजाता दोनों का दिया हुआ भोजन समान है।

कुशीनगर पहुँच कर बुद्ध ने नदी में स्नान किया। शाल वृक्ष के नीचे आसन पर उत्तर की ओर सिरहाना करके लेट रहे। इसी समय कहीं से सुभद्र ब्राह्मण उनसे उपदेश ग्रहण करने आया। आनन्द ने उसे नहीं आने दिया। बुद्ध को यह ज्ञात हुआ। उन्होंने सुभद्र को बुलवाया और सद्धर्म का मर्म समझाया। अब उनका अन्त समय आ पहुँचा। उन्होंने अपने शिष्यों को सम्बोधित करते हुए कहा—भिक्षुओ, मैं तुम्हें अन्तिम बार बुलाता हूँ। संसार की सब सत्ताओं की अपनी-अपनी आयु है। अप्रमाद से अपना काम करते चलो। ऐसा कहते-कहते उनके बोल बन्द हो गये। ईसापूर्व ५४५ में उन महामहिम ने भिक्षु संघ को सद्धर्म का भार सौंप कर महापरिनिर्वाण प्राप्त किया।

तथागत के निर्वाण का समाचार बात की बात में चारों ओर फैल गया। दूर-दूर के राष्ट्रों के लोग कुशीनगर में आ

पहुँचे। मल्लों ने उनका दाह-संस्कार बड़ी धूमधाम से किया। उनके धातुओं (फूलो) को घेर कर आठ दिन तक उत्सव मनाया। फिर धातुओ को आठ भागों में बाँट कर आठ राष्ट्रों के दूत अपने साथ ले गये। उन्हें नींव मे रख कर उनके ऊपर विशाल स्तूप बनवाये। ये आठ स्तूप राजगृह, वैशाली, कपिलवास्तु, अल्लकप्प, रामग्राम, वेथदीन, पावा और कुशीनगर में निर्मित हुए और बहुत दिनो तक बुद्ध के फूलों की स्मृति-रक्षा की मूक घोषणा करते रहे।

बुद्धदेव के आविर्भाव के समय सारे देश में अशान्ति व्याप्त थी। लोग धर्म का सच्चा रूप भूल गये थे। पशुबलि को मुक्ति का साधन समझा जाने लगा था। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच के भावों के प्रचार का कारण बन गयी थी। हिंसा और अनाचार का बोलबाला था। धर्म और समाज की व्यवस्था के पुराने सोते सूख चले थे। लोग नये शीतल धर्म-स्रोत की खोज में थे। सिद्धार्थ ने राज-पाट और भोग-विलास को ठुकरा दिया। सत्य का मार्ग ढूँढ निकाला। उसे सर्वजन-सुलभ बनाया—राजमार्ग बनाया। उस पर चलने का अधिकार मानव मात्र को दिया। विश्वबन्धुत्व की स्थापना की। संसार मे पहलेपहल समानता की सृष्टि की। व्याधि और अशान्ति से झुलसे संसार को अहिंसा, जीव-दया, करुणा और प्रेम की शीतलता प्रदान की। आज भी अगणित नर-नारी उनके प्रदर्शित पथ पर चलते हुए कल्याण की प्राप्ति करते हैं।

प्रियदर्शी अशोक

विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम।

भिक्षु होकर रहते सम्राट्, दया दिखलाते घर घर घूम।

यह है हमारे देश के प्राचीन काल के राजा का सच्चा रूप। उस युग मे संसार के जिन-जिन देशों का ज्ञान था उन सब में सद्धर्म का प्रकाश फैलाना ही जिसका एकमात्र जीवन-ध्येय था वह सम्राट् कौन था? जिसने राज करते हुए भी भिक्षु का जीवन बिताया वह कौन महापुरुष था? चन्द्रगुप्त मौर्य का नाम आपने सुना होगा। उसने महापद्मनन्द के परम शक्ति-शाली मगध राज्य को अपने अधिकार मे कर लिया था। फिर पंजाब को उस राज्य मे मिला लिया। कुछ समय पीछे उसने अलक्सान्द्र (सिकन्दर) के पच्छिमी और मध्य एशिया के साम्राज्य के स्वामी सेलेउक्स* को परास्त किया। इस विजय से उसके राज्य की सीमा उत्तर-पच्छिम की ओर बढ़ गयी। आज कल जो देश हिन्दू कुश, काबुल, हरात, कंधार, कलात, लासबेला, मकरान के क्षेत्रों के अन्तर्गत हैं वह सब मौर्य साम्राज्य में समा गया। चन्द्रगुप्त के इस विशाल साम्राज्य को उसके पुत्र बिन्दुसार ने दक्षिण की ओर फैलाया। वह आधुनिक कर्णाटक के दक्खिनी छोर तक

---

* सेलेउक्स् (Seleucus) मे अन्तिम 'स्' प्रथमा एकवचन का सूचक है। अतएव मूल शब्द 'सेलेउक' ही है।

पहुँच गया। उन दिनों इतना विस्तृत साम्राज्य दूसरा न था। ईसा पूर्व २७३ में बिन्दुसार के न रहने पर उसका पुत्र अशोक उसका सम्राट् हुआ। इसके पहले वह उज्जयिनी और तक्षशिला का उपरिक (राज-प्रतिनिधि) रह चुका था। राजगद्दी पर बैठने के चार बरस पीछे, उसका अभिषेक हुआ। कहते हैं ये चार वर्ष उसे राज्य के ऊपर पूरा प्रभुत्व प्राप्त करने में लगे।

इसी बीच उसका ध्यान पूरबी समुद्र-तट पर स्थित छोटे से राज्य कलिङ्ग की ओर गया। कम्बोज से कर्णाटक तक फैले उस विशाल साम्राज्य के बीच यह छोटा-सा राज्य उस समय भी स्वतन्त्र था। वह समृद्ध और शक्तिशाली था। उसके जल-पोत पूरबी सागर पर अपनी कलिङ्ग-पताका फहराया करते। उसके द्वीपों की धनराशि कलिङ्ग के वैभव को बढ़ाती। कलिङ्ग की हाथियों की सेना की जोड़ उन दिनों न थी। अशोक की आँखों में कलिङ्ग की स्वतन्त्रता खटकने लगी। उसने राज्यारम्भ के बारहवें वर्ष ई० पू० २६१ में अपनी विशाल सेना से उस शान्त देश को रौंद डाला। कलिङ्ग के वीरों ने डट कर उससे लोहा लिया। उसके दाँत खट्टे कर दिये। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। एक लाख वीर खेत रहे। डेढ़ लाख बन्दी हुए। अन्त में कलिङ्ग ने घुटने टेक दिये। अशोक का मन-चाहा हुआ। कलिङ्ग उसके अधीन हो गया।

कलिङ्ग तो हाथ में आ गया, किन्तु अशोक का मन बदल गया। कहते हैं वह बड़ा ही क्रूर था; परन्तु इस भीषण हत्या-काण्ड और संहार के भयङ्कर-दृश्यों को देख कर वह काँप उठा।

उसका हृदय पिघल उठा। उसमें दया का सञ्चार हुआ। वह पछताने लगा कि जहाँ 'लोगों का इस प्रकार वध, मरण और निर्वासन हो वहाँ जीतना किस काम का। उसने युद्ध के मार्ग से मुँह मोड़ लिया। करुणामय बुद्ध के दिखलाये पथ पर चलने का निश्चय किया। ई० पू० २५९ में वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। बुद्ध के उपदेशों से उसके मन को शान्ति मिली। उसने मनुष्य मात्र को उसी शान्ति का सुख पहुँचाने का बीड़ा उठाया। पहले उसने अपने व्यक्तिगत राजकीय जीवन को बुद्ध की शिक्षाओं के साँचे में ढाला। उसके भोजनालय में जीभ के स्वाद के लिए अगणित पशु-पक्षी नित्य काम आते थे। अब अशोक ने उनकी हत्या बन्द कर दी। विनोद के लिए भी पशुओं-पक्षियों का मारना रोक दिया। आखेट करना छोड़ दिया। पशुओं को लड़ाने के खेल रोक दिये। मदिरा का प्रयोग उठा दिया। राजसी ठाटबाट छोड़ त्यागमय सरल रहन-सहन को अपनाया। तीर्थयात्रा, दान, धर्म-सभा और धर्मोपदेश उसके मन-बहलाव के साधन बने। उसने अपनी प्रजा के आचरण सुधारने का भी प्रबन्ध किया। उसने सारे देश में आज्ञा प्रचारित की कि लोग धर्म के नियमों को बरतें। वे उन नियमों को बराबर देखते रहें—इसलिए उसने प्रमुख स्थानों में बड़ी-बड़ी चट्टानों के ऊपर ये धर्मादेश खुदवा दिये। उनमें लिखा रहता—"प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह मन को वश में रखे, विचार पवित्र बनाये, दूसरों के किये उपकार को माने, विश्वास का पात्र बने। क्रोध, निर्दयता और ईर्ष्या से बचे। बराबर अपने किये को देखा करे। सच बोले। सभी प्राणियों

के जीवन को पवित्र समझे। समस्त जीवित प्राणियों के ऊपर दया करे। माता-पिता की आज्ञा मानना धर्म का मुख्य अङ्ग है।"

बौद्ध धर्म को मानते हुए भी अशोक असहिष्णु न था। उसकी प्रजा अपने मन-चाहे धर्म का पालन करती थी। वह चाहता था कि सब सम्प्रदायों के लोग एक-दूसरे के प्रति उदार हों। सभी आपस में प्रेम से रहें। उसका मत यह था—"देवानां प्रिय (देवताओं के प्रिय अशोक) को दान अथवा पूजा की उतनी चिन्ता नहीं है जितनी सब पन्थों के सार (तत्व) की वृद्धि की। पन्थों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उसका मूल वाक्-संयम है। लोग केवल अपने पन्थ का आदर और दूसरों की निन्दा न करें। सब पन्थों का आदर करना लोगों का कर्तव्य है। समवाय (मेल) अच्छा है। लोग एक-दूसरे के धर्म को ध्यान से सुनें और उसका पालन करें। देवप्रिय अशोक की इच्छा है कि सब पन्थ वाले बहुत ही विद्वान् हों और कल्याण-कर काम कर सकें।" इस आदर्श की पूर्ति के लिए उसने 'धर्म महामात्य' नियुक्त किये। चुने हुए लोग ही इस पद के अधि-कारी समझे जाते थे। जो ईर्ष्यालु, द्वेषी, निर्दय अथवा उतावला होता वह इस कार्य के योग्य न समझा जाता। 'धर्म-महामात्य' निर्धन और बूढ़ों के हित के लिए तथा प्रजा को शान्ति एवं सुख पहुँचाने के भी काम किया करते। जान पड़ता है कि अशोक के प्रजाजन उसका उद्देश्य पूरा करने में सफल हुए। तभी उसने घोषणा की—"जितने अच्छे काम मैंने किये हैं उन सब का अनु-करण और पालन लोगों ने किया। इससे प्रकट है कि आजकल

धर्म की वृद्धि हो रही है। अवश्य ही मेरे प्रचारित सद्गुणों की शीघ्र और भी उन्नति होगी।"

अशोक ने प्रजा की सुविधा के लिए भी बहुत से काम किये। राज-पथों के दोनों ओर पेड़ लगवाये। उनसे यात्रियो को छाया मिलती थी। खाने को स्वादिष्ट फल प्राप्त होते थे। पथ के समीप कुएँ खुदवाये, विश्राम-गृह बनवाये और प्याऊ चलवाये। मनुष्यों और पशुओ की चिकित्सा के लिए राज की ओर से प्रबन्ध किया। औषध के लिए जड़ी-बूटी उत्पन्न करने की व्यवस्था की। वह उन जड़ियों-बूटियो को अपने और पास-पड़ोस के राज्यों मे बँटवाया करता। उसे प्रजा को अत्याचार से बचाने का भी ध्यान रहता। उसके कान प्रत्येक समय, अवसर और स्थान में प्रजा की पुकार सुनने के लिए खुले रहते। किसी को उसके पास अपनी गोहार पहुँचाने को कभी रोक-टोक न थी। अशोक को प्रजा के भरण-पोषण का भी ध्यान रहता था। उसके पितामह चन्द्रगुप्त ने सौराष्ट्र मे गिरनार पहाड़ के पास ऊर्जयत पर्वत के ऊपर बाँध बनवाया था। उसमे कई पहाड़ी नदियों का पानी इकट्ठा होता था। वह विशाल 'सुदर्शन सरोवर' अधूरा रह गया था। अशोक ने उसके बनवाने का काम पूरा किया। उसका पानी आसपास के विस्तृत प्रदेश मे सिचाई के काम आता था।

ऊपर कुछ लोक-हित के कामो का वर्णन किया गया है। अपने साम्राज्य के भीतर ही उन्हे करके अशोक चुप न बैठा। उसने पास-पड़ोस के दूसरे राज्यो में भी चिकित्सालय बनवाये और मार्गों में पेड़ लगवाये। अशोक के शिला-लेखों में उन देशो

के नाम गिनाये गये हैं। इससे प्रकट होता है कि दक्षिण के चोल, चेर, पाण्ड्य और सिंहल राज्यों में तथा सारे मध्य एवं पश्चिमी एशिया, मिस्र, आजकल के बेनगाज़ी तक उत्तरी अफरीका और यूनान तक मे अशोक के ये धर्म-विजय के काम प्रसारित हुए थे।

ये सब काम उसने नाम कमाने के लिए नहीं किये। उसका उद्देश्य तो कुछ और ही था। एक शिलालेख में उसने लिखवाया था—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यश को महान् नहीं समझता। उसको यश की चाह इसी लिए है कि अभी और आगे मेरी प्रजा धर्म का सेवन एवं धर्म के आचरण का पालन करे।"

अशोक ने बौद्ध धर्म की रक्षा के लिए भी महत्त्व-पूर्ण काम किया। उस समय तक बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओं का रूप कुछ बिगड़ सा गया था। उसे सुधारने के लिए अशोक ने पाटलिपुत्र में धर्म के जानकारों, विद्वानों और भिक्षुओं की सभा की। बौद्ध धर्म की यह तीसरी 'सङ्गीति' थी। पहली 'सङ्गीति' तो बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर ही राजगृह में हुई थी। उसमें पाँच सौ भिक्खु एकत्र हुए थे। उन्होने बुद्ध के वचनों को गाया था। सौ बरस पीछे दूसरी सङ्गीति वैशाली में हुई थी। अपने साम्राज्य में तो अशोक ने प्रमुख स्थानों में स्तूपों, शिलाओं आदि के ऊपर धर्म की शिक्षाओं को खुदवाया था। मानो उन्हें स्थायी धर्म के शिक्षक वा प्रेरक के रूप मे खड़ा कर दिया था। इस प्रदेश में ही बुद्ध ने जन्म लिया और बहुत दिनों तक स्वयं उपदेश दिया था। उनके पीछे भी अगणित भिक्षुओं और भिक्षुणियों ने तथागत के धर्म का व्यवहार, उपदेश और प्रचार करके लोगों को उससे

विचलित नहीं होने दिया था। अतएव पत्थरों पर खुदे हुए इन धर्म-आदेशों का समझना सबके लिए सुगम था। परन्तु विदेशों के निवासी पत्थरों की बातें पूर्णतया समझ नहीं सकते थे। इस लिए उक्त तीसरी सङ्गीति ने एक और काम किया, जो पहले कभी किसी ने उस रूप में नहीं किया था। सद्धर्म के प्रचार के लिए चारों ओर धर्म-दूत भेजे गये। अशोक के पुत्र महेन्द्र और उसकी बहिन सङ्घमित्रा ने भी चीवर धारण किया। वे धर्म का सन्देश सुनाने सिंहल गये। वहाँ उन्होंने बोधि-वृक्ष की शाखा भी रोपी। वहाँ के राजा तिष्य को बौद्ध धर्म में दीक्षा दी। धीरे-धीरे सिंहल भर में बौद्ध धर्म फैल गया। इसी प्रकार पूरबी हिमालय के किरात और सुवर्ण-भूमि (हिन्दचीन प्रायद्वीप) के आग्नेय जाति वालों के बीच भी भिक्षु पहुँचे। उत्तरापथ के कश्मीर, कम्बोज आदि एवं पश्चिम के यवन राज्यों में बुद्ध की धर्म-दुन्दुभि सुनाने के लिए भी धर्मप्राण भिक्षुओं के दल गये। इस प्रकार 'यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने अपने साम्राज्य तथा छः सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की, जहाँ अन्तियोक यवन राज्य करता है। उस अन्तियोक के अतिरिक्त तुरमय, अन्तिकिनी. मक और अलिकसुन्दर चार राजा राज्य करते हैं। उनने अपने राज्य के दक्षिण चोल, पाण्ड्य तथा ताम्रपर्णी (सिंहल) में भी धर्म-विजय प्राप्त की है। सभी स्थानों में लोग देवताओं के प्रिय (अशोक) के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं और आगे करेंगे।"

ऊपर धर्म-विजय के लिए प्रयुक्त शिलाओं. और स्तूपों का

उल्लेख हो चुका है। अशोक ने स्तम्भों का भी निर्माण कराया। इनमे से कुछ में अशोक के जीवन की कोई न कोई घटना लिखी है—जैसे, लुम्बिनी की यात्रा, कलिङ्ग-विजय आदि। अधिकांश में उसके धर्मानुशासन अङ्कित हैं। उसने असङ्ख्य शिलाओं, स्तम्भो और स्तूपों का निर्माण कराया था। उनमें बहुतों का अब अस्तित्व नहीं रहा। हाँ, कुछ बच रहे हैं। शिलालेख पेशावर और हजारा जिलों में, सौराष्ट्र, बिहार और उड़ीसा में तथा देहरादून जिले और मद्रास, मैसूर एवं हैदराबाद प्रदेशों मे मिले हैं। जहाँ प्रकृति ने बड़ी-बड़ी चट्टानें नहीं दी थीं, वहाँ मनुष्य की कला के अद्वितीय स्मारक स्तम्भों के रूप में खड़े किये गये। ये खम्भे मिर्जापुर-चुनार के लाल पत्थर के बने हैं। ऐसे चिकने हैं कि छूने पर हाथ फिसलता है। इनकी चमक का क्या कहना। ढाई सहस्र वर्षों के पुराने इन स्तम्भों की सी चमक आज भी ऐसे किसी दूसरे पत्थर में नहीं लायी जा सकी। इस कौशल को देख कर बड़े-बड़े कला-कुशल दाँतो तले उँगली दबाते हैं। प्रत्येक स्तंभ लगभग पचास फीट ऊँचा है। तीन और चार सौ फीट ऊँचे स्तम्भ भी मिले हैं। इतने बड़े और भारी स्तम्भ चुनार में ही बने होंगे। कारण, प्रत्येक स्तंभ एक ही पत्थर को काटकर बनाया गया है। फिरोजशाह तुगलक (१३५१-१३८८ ई०) एक स्तम्भ अम्बाला के पास से उठवा कर दिल्ली लिवा लाया था। उसे ढोने के लिए बयालिस पहियों की गाड़ी बनवाई गई थी। प्रत्येक पहिये में रस्सी बँधी थी। प्रत्येक रस्सी दो सौ मनुष्यों ने खींची थी। इस प्रकार उस स्तम्भ को डेढ़ सौ मील ले जाने के लिए ८४००

जन लगे थे। तो चुनार से उनको दूर-दूर देशों में पहुँचाना भी साधारण बात न रही होगी। समझ में नहीं आता कि उन दिनों वे कैसे पहुँचाये गये होंगे। इन स्तम्भों के ऊपर सिंह, बैल आदि की बड़ी ही भव्य मूर्तियाँ बनी हैं। अशोक ने बहुत से स्तूप भी बनवाये। बुद्ध के फूल आठ स्तूपों के नीचे रखे गये थे। उनको वहाँ से निकलवा कर अशोक ने अन्य स्थानों में भी रखवाया। फिर उनके ऊपर स्तूप खड़े करवाये। कपिश (आधुनिक काफिरिस्तान) की राजधानी कपिशी में सौ फीट ऊँचा स्तूप छठी शताब्दी तक खड़ा था। इसी प्रकार अशोक ने अनेक विहार बनवाये थे। उसी ने कश्मीर की राजधानी श्रीनगर और नेपाल की पुरानी राजधानी पाटन (मञ्जुपत्तन) को स्थापित किया था। उसने पाटलिपुत्र में बड़े सुन्दर बेल-बूटों वाले भवन बनवाये थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान ने कोई नौ सौ वर्ष पीछे इन्हें देखा था। उसका मत था कि इन्हें इस संसार का कोई मानव हाथ नहीं बना सकता।

इस प्रकार धर्म का प्रचार करते हुए अशोक ने अपने समय के कला-कौशल की उन्नति की। उसने प्राण-पन से धर्म का पालन और प्रसार किया। फिर भी शासन करने में त्रुटि न की। इतने विस्तृत साम्राज्य की व्यवस्था को ठीक रखा। उसके दादा चन्द्रगुप्त ने अपने मन्त्री चाणक्य की सहायता से सुव्यवस्थित शासन की नींव डाली थी। अशोक भी उसी के अनुसार राज्य का प्रबन्ध करता रहा। शासन के सुभीते के लिए साम्राज्य (जिसे उस समय 'विजित' कहा जाता था) पांच चक्रों (मण्डलों) में बँटा

था। पाटलिपुत्र केन्द्र था। चक्रों की राजधानियों मे राजा की ओर से कुमार (राजकुमार), महामात्य (सचिव) वा 'राजुक' अनुशासन (राज-प्रबन्ध) का निरीक्षण करते थे। चक्र के अन्तर्गत जनपद थे। समस्त देश में एक ही प्रकार के नियम नहीं चलते थे। विविध जातियाँ, जनपद, सङ्घ और परिवार अपने 'शील, वेश, भाषा और आचार' का पालन करने के लिए स्वतन्त्र थे। अशोक के अधिकार की नींव केवल नैतिकता के ऊपर टिकी थी। वह जन-रक्षा को ही विशेष महत्त्व प्रदान करता था। वह एक प्रकार से प्रजा का निरीक्षक था। साम्राज्य का निरीक्षण करने के लिए वह निरन्तर परिभ्रमण किया करता था। वह अन्याय का दमन करने के लिए सदाचारी और विनम्र राज-कर्मचारियों को प्रति पाँचवें वर्ष देश का निरीक्षण करने भेजता था। उसने बौद्ध, ब्राह्मण, जैन सभी पन्थों के लोगो के नैतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युत्थान की देखभाल के लिए 'धर्म महामात्य' नियुक्त किये। शासन की कठोरता को कम किया। राज्याधिरोहण के दिन प्रतिवर्ष प्राणदण्ड पाये वन्दी छोड़ दिये जाते थे। वह अहिंसा का पुजारी था। फिर भी देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए उसने सेना को भङ्ग नहीं किया। उसकी विशाल सेना में साठ सहस्र पैदल, तीस सहस्र अश्वारोही (घुड़-सवार), नौ सहस्र गजारोही (हाथी-सवार) और ऐसे ही रथी सैनिक थे।

अशोक ने साम्राज्य की समृद्धि और सुव्यवस्था के लिए राज-दण्ड को सबल हाथों से सँभाला। परन्तु उसके शासन में

राजनीति के साथ धर्म और सदाचार का मेल हुआ। संसार में वही पहला राजा था जिसने राज्य बढ़ाने का लोभ रोका। साथ ही ऐसा राज्य बढ़ाया जिसका अधिकार लोगों के हृदय पर होता है। उसे यह लालसा थी कि अधिक से अधिक लोग मेरे धर्म-राज्य में रहें। इससे उसके राज्य की सीमा न थी। वह भौतिक शक्ति के सहारे नहीं टिका था। उसका दृढ़ आधार धर्म और सदाचार था। इसीलिए उसने साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के राज्यों के सम्बन्ध मे सूचित किया कि उन्हें "मुझसे डरना न चाहिये। मेरा विश्वास करना चाहिये। मुझसे दुःख नहीं, किन्तु आनन्द प्राप्त करना चाहिये। वे यह मानें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकेगा राजा उनसे क्षमा का व्यवहार करेगा।" यों चारों दिशाओं मे शान्ति और मैत्री का दिव्य सन्देश पहुँच गया। यह सन्देश धर्ममूर्त्ति भिक्षुओं ने सुनाया एवं अमिट शिलाओं और स्तम्भों ने आते-जाते पथचारियों को रोक-रोक कर पढ़वाया। अशोक ने ऐसा प्रेम का अस्त्र चलाया कि उसके विशाल साम्राज्य के ही नहीं, परन्तु दूर-दूर के पराये राज्यों के लोग भी उसके अधीन हो गये। उसके पहले किसी दूसरे राजा ने युद्ध से मुँह मोड़, प्रेम, शान्ति और धर्म का इतना बड़ा साम्राज्य नहीं स्थापित किया था। वह सचमुच अशोक था— स्वयं तो शोक-रहित था ही, उसने उस समय के समस्त ज्ञात संसार को शोक-रहित किया।

सन्त कबीर

वह था आश्चर्य का पुतला । स्पष्ट-वक्ता और निर्द्वन्द्व। अपनी धुन का पक्का। बुराई देख कर तिलमिला उठता। ऐसी फटकार सुनाता कि बस न पूछो । सब उसकी खरी बातें सुनते और सहते । वह सचाई की राह चलता, भले ही उस पर पहले के वा अधिक लोग न चले हों। उसी ने कहा है—

लीक लीक कायर चलैं, लीकहि चलै कपूत।
लीक छाँडि तीनौ चलैं, सायर सिंह सपूत।

संवत् १४५५ का जेठ। पूनों का विहँसता भोर । सूरज की किरनों ने आकाश से उतर कर उसका मुँह चूमा। काशी में नीरू जुलाहे का घर जगमगा उठा। उसकी पत्नी नीमा की गोद भर गयी । कुछ दिनों में लोग उसे कबीर कहने लगे । जैसा नाम वैसा ही गुन। वह सचमुच कबीर था—श्रेष्ठ, महान्। यह उसके जीवन काल में सबने माना। आज और अधिक मानते हैं । हाँ, तो वह जुलाहा था। समाज में निम्न श्रेणी के परिवार का बालक। छुटपन से ही पिता-माता को ताना-बाना के हेर-फेर में देखता । उनकी देखा-देखी वह भी उसी पेट के धन्धे में लगा । पढ़ना-लिखना उसके भाग में न था । 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।' परन्तु वह था बड़ा ही प्रतिभाशाली। काशी

में रहता था। वहाँ सर्वत्र धर्म-चर्चा होती। बालक कबीर साधुओं के पास जाया करता। उनकी बातें ध्यान से सुनता। उन्हें समझने का जतन करता। धर्म के तत्व का चिन्तन करने लगा। घरेलू धन्धा जीविका चलाने भर को करता। अधिक समय साधु-सङ्ग में बिताता। उसने स्वयं ही कहा है—

विद्या नाहिं पढ़ूँ वाद नहिं जानूँ, हरि गुन कथत सुनत बौरानूँ।
मीठो कहा, जाहि जो भावै, दास कबीर राम गुन गावै।

बेटे को वैराग के रङ्ग में डूबते देख नीमा चिन्तित हुई। उस समय कबीर के मन मे क्या बीतती थी—यह उन्हीं से सुनिये—

मुसि मुसि रोवै कबीर की माय, ये बालक कैसे जीवहिं रघुराय!
तनना बुनना सब तज्यो कबीर, राम नाम लिखि लियो सरीर।
जब लग भरौं नली का बेह[1], तब लग टूटै राम सौं नेह।
कहत कबीर सुनहु री माई, पूरण हारा त्रिभुवन राई।

इस प्रकार भगवान् के प्रति विश्वास ले कर कबीर चल पड़े। वह धर्म का तत्व जानने के लिए व्याकुल रहते। सुनी-सुनायी बातों से उनका मन न भरता। उन्हीं दिनों काशी में प्रसिद्ध महात्मा रामानन्द रहते थे। वे राम की भक्ति का उपदेश देते थे। ऊँच-नीच का विचार छोड़ सबको उसका अधिकारी मानते थे। कबीर उनके शिष्य होना चाहते थे। परन्तु ठहरे मुसलमान। किस मुँह से उनके पास दीक्षा लेने जावें। सोचते-सोचते उनकी समझ में उपाय निकल आया। स्वामीजी अँधेरे-मुँह नित्य

१. (कपड़ा बुनने की) नरी (नली) का छेद।

मणिकर्णिका घाट पर गङ्गा नहाने जाते। उनका मार्ग और समय बँधा था। कबीर पहले से वहाँ सीढ़ी पर लेट गये। महात्मा का पैर उनके ऊपर पड़ गया। वे ठिठक गये। दया भाव से तत्काल बोल उठे—राम, राम। कबीर हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। बोले—स्वामी, आपने मेरे सिर पर अपने चरण रखे, राम-मन्त्र दिया। मैं आपका शिष्य।

गुरु से दीक्षा पाने का यह नया ढङ्ग! कबीर की अनोखी सूझ। महात्मा ने प्रसन्न हो कर उन्हें अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। कबीर ने बड़े गर्व से घोषणा की—'कासी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये।' उन्होंने गुरु रामानन्द के सत्सङ्ग से ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही वे मुसलमान फकीरों और सूफी दरवेशों के साथ भी उठते-बैठते। उनके विचार भी सुनते। यह सब करते हुए भी वे किसी भी धर्म के सिद्धान्त आँख मूँद कर न मानते। उन्हें तर्क-युक्ति और आचरण-व्यवहार की कसौटी में कसते। जो उसमें खरा उतरता उसी को अपनाते। इस विशेषता ने ही उन्हे स्वतन्त्र विचारक के रूप में उपस्थित किया।

ऐसे कबीर ने अपने समय के समाज की दशा देखी। मुसलमानों को इस देश में आये कई सौ वर्ष हो चुके थे। उनका और हिन्दुओं का सङ्घर्ष तब भी चल रहा था। राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक और धार्मिक जीवन में भी दोनों की खींचातानी बन्द नहीं हुई थी। अपने-अपने धर्म का मूल रूप दोनों की आँखों से ओझल हो चुका था। बाह्याचार ही सब कुछ समझा जाने लगा था। हिन्दू मूर्त्ति-पूजा, तीर्थ, व्रत आदि के मर्म

को समझे-बूझे बिना लकीर पीट रहे थे। मुसलमान रोजा, नमाज, कुर्बानी आदि को ही इस्लाम का सच्चा रूप मान बैठे थे। दोनों धर्मों के अनुयायी अलौकिक सिद्धियों और चमत्कारों के पीछे पागल थे। जिसने कुछ भी अनोखा और अचरज से भरा काम कर दिखाया उसे महात्मा मान लिया गया। प्रत्येक असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के सम्बन्ध में ऐसी मनगढन्त सिद्धियों की कहानियाँ चल पड़ीं। श्रद्धालु जन उन्हीं के सहारे ठगे जाने लगे। धर्म के सच्चे रूप को आडम्बरों ने घेर लिया। उसका पालन करना ऐसे लोगों के लिए सम्भव हो गया जो घर का कामकाज छोड़ उसी के हो जायँ। फिर वे अपना पेट पालने और उल्लू सीधा करने के लिए नाना प्रकार के छल-कपट करने लगे। यों धर्म का रूप बिगड़ गया। अपने को श्रेष्ठ और दूसरे को नीच समझने की प्रवृत्ति बढ़ी। छोटों-बड़ों के वर्ग बन गये। वे परस्पर नीचा दिखलाने लगे। समाज की व्यवस्था विशृङ्खल हो गयी।

स्वतन्त्रचेता कबीर के मन में झूठे आडम्बरों के प्रति विद्रोह का भाव उठा। वे बोल उठे—

अरे इन दोउन राह न पायी।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेस्या के पायन तर सोवै यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहै घर ही मैं करैं सगाई।

बाहर से एक मुर्दा लाये धोय-धाय अन्हवायी।
सब सखियाँ मिल जेवन बैठीं घर भर करै बड़ाई।

अतः हिन्दुओं और मुसलमानों के मिथ्याचार के प्रति कबीर ने बड़े कड़े कोड़े चलाये। दोनों को झकझोर दिया। उन्होंने हिन्दुओं की आडम्बर-प्रियता को फटकारते हुए कहा—

मुद्रा पहर्यां जोग न होई, घूँघट काढ्यॉं सती न कोई।

मूर्त्तिपूजा को निरर्थक बतलाते हुए कहा—

दुनिया कैसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै जिसका पीसा खाय।

तीर्थस्नान के सम्बन्ध में उन्होंने कहा—

न्हाये धोये का भया, जो मन-मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहै, धोये बास न जाय।

वेश मात्र से काम नहीं चलता—यह कबीर का मत था। इसीसे उन्होंने कहा था—

मन ना रँगाये, रँगाये जोगी कपरा।

और यह भी बतला दिया कि—

मूँड मुँडाये हरि मिलैं, सब कोई लेइ मुँडाय।
बार बार मूँडते, मेड़ न बैकुँठ जाय।

ऐसे ही मुसलमान को सचेत किया कि—

मीयॉं तुम्ह सौं बोल्या बणि नहिं आवै।
अलह अवलि दीन का साहिब, जोर नहीं फुरमाया।
मुरसिद पीर तुम्हारे है को? कहौ कहाँ थे आया।
रोजा करैं निवाज गुजारैं कलमैं भिसत न होई।

उनको जीव-हत्या करते देख सावधान किया—

दिन भर रोजा धरत हो, राति हनत हो गाय।
एक खून, यक बंदगी, कैसे खुशी खुदाय।

फिर उनसे पूछा—

काँकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई चिनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय ?

हिन्दू-मुसलमान दोनों एक-दूसरे के धर्म को समझने और उनके मूल की एकता से आँख फेरे हुए थे। उन्हें सावधान करते हुए कबीर ने बतलाया—

ऐसा भेद बिगूचन[1] भारी।
बेद कतेब[2] दीन अरु दुनिया, कौन पुरुष कौन नारी।
एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपना, कौन बाँमन कौन सूदा।
माटी का प्यंड सहज उतपना नाद रु ब्यंद समाना।
बिनसि गया थैं का नाँव धरिहौ, पढ़ि गुनि भ्रम जाना।
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर सतगुन हरि है सोई।
कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई।

इस प्रकार दोनों धर्मों के अनुयायी बाहरी रहन-सहन तथा उपासना-पद्धति के भेद को भुला दें और धर्म के सच्चे रूप को समझें—यही कबीर का उद्देश्य था। उन्होंने कड़े शब्दों का प्रयोग किया। दोनों की बुराइयों को खोल कर दिखाया। वे ऐसा

१. असमंजस्य, कठिनता। २. किताब (अर्थात् कुरान)।

न करते तो किसे अपनी भूल दिखलायी पड़ती।

कबीर ने कोरे सुधारवादी का काम न किया। उन्होंने धर्म का सच्चा रूप दिखलाया। जीवन में उसके आदर्श और सिद्धान्त के अनुसार चलना चाहिये। सब से प्रेम करना मनुष्य का सबसे प्रधान कर्त्तव्य है। उन्होंने बतलाया कि 'जा घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।' इससे

नेह निभाये ही बनै सोचै बनै न आन।
तन दे मन दे सीस दे नेह न दीजै जान।

परोपकार, पर-दुःख-कातरता, सहनशीलता, सन्तोष, मृदु-भाषिता, मनःशुद्धि, कथनी-करनी में समानता, निरभिमान, आत्मसंयम आदि मानवोचित गुण अपनाने के लिए उन्होंने शिक्षा दी। यही तो सभी धर्मों की सीख है। ऐसा जीवन हो जाने पर धर्म-लाभ में और रह ही क्या जाता है। इसी लिए उन्होंने धर्म का सार खींच कर घोषित कर दिया कि

आपा तजो औ हरि भजो, नख सिख तजो विकार।
सब जिउ ते निरबैर रहु, साधु मता है सार॥

धर्म के इस व्यावहारिक रूप के साथ ही उसका अध्यात्म पक्ष भी होता है। कबीर ने उसके साधन की विधि भी बतलायी। उन्हें उसमें भी दिखावा अच्छा नहीं लगता था। वे कहते थे—

पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिउ परसै नहीं तब लग संशय मेल।

जो पुस्तकीय ज्ञान आचरण में नहीं ढलता उसे कबीर

निरर्थक मानते थे। उनका मत था—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।

यह प्रेम भगवान् से लग जाय तो जीव की बन जाय। इसी से कबीर ने सबसे कहा कि—

और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारिकै, भक्ति करो तजि भर्म।

उस परमात्मा को ढूँढने के लिए कहीं बाहर नहीं जाना—

ज्यों तिल मांही तेल है, ज्यों चक्मक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सकै तो जागि।

उन्होंने यह भी बतलाया कि विविध पन्थों के झगड़ों में उलझना ठीक नहीं। कारण, भगवान् का रूप कैसा है यह बतलाना सम्भव नहीं। वह अनुभव किया जा सकता है। गूँगे का गुड़ है।

दीठा है तो कस कहूँ, कहूँ तो को पतियाय।
साईं जस तैसा रहो, हरखि हरखि गुन गाय।

यही निरन्तर स्मरण परमात्मा के मिलने का उपाय है। जीवात्मा को उससे बिछुड़ने की व्याकुलता होनी चाहिये। दिन-रात उसकी बिछुड़न की तड़पन सताती रहे। वह कह उठे—

बहुत दिनन की जोवती, रटत तुम्हारो नाम।
जिव तरसै तुव मिलन को, मन नाहीं विश्राम।

परमात्मा से मिलने की उत्कट अभिलाषा से उनकी यह दशा हो जाय—

अँखियाँ तो झाईं परी, पंथ निहार निहार।
जीहड़िया छाला परा, नाम पुकार पुकार।

विरह-कातरता में उसके

नैनन तो झरि लाइया, रहट बहै निसु बास।
पपिहा ज्यों पिउ पिउ रटै, पिया मिलन की आस।

बस फिर क्या, निरन्तर उसी का स्मरण होता रहेगा—

सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त।

मन की इस स्थिति मे भक्त की एकमात्र अभिलाषा यह हो जायगी—

तू मति जानै बीसरूँ, प्रीति घटै मम चित्त।
मरूँ तो तुम सुमिरत मरूँ, जिऊँ तो सुमिरूँ नित्त।

अन्त में वह कह उठेगा—

नैनों अंतर आव तू, नैन झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देउँ।

इस एकाधिकार के अनन्तर उसने

नैनों की करि कोटरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय।

उसको मन के भीतर ही नहीं बाहर भी सर्वत्र उसी प्रियतम की बाँकी झाँकी दिखलायी पड़ती है और अन्त में वह भीतर-बाहर उसी के रङ्ग में सराबोर हो जाता है। तब कह उठता है—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल।

इस तन्मतयता में भक्त और भगवान का भेद मिट जाता है। भक्त सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते अपने भगवान् में लीन रहता है। वह सदा प्रसन्न रहता है। उसकी दशा ऐसी हो जाती है—

संतो सहज समाधि भली।
जब ते दया भयी सतगुरु की, सुरति न अनत चली।
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करौं सो पूजा।
घर बनखंड एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा।
शब्द निरन्तर मनुवा राचा, मलिन वासना त्यागी।
जागत सोवत ऊठत बैठत, ऐसी तारी लागी।
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ, काया-कष्ट न धारूँ।
उघरे नैनन साहेब देखूँ, सुन्दर बदन निहारूँ।

कबीर ने आत्मा और परमात्मा के एक हो जाने का ऐसे ही बहुत से पदों में वर्णन किया है। उनकी बतलायी हुई भक्ति और साधन की पद्धति को बहुत लोगों ने अपनाया। वे उनको सद्गुरु मानने लगे। उनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान सभी थे। आजकल भी उनके अनुयायियों की संख्या कम नहीं। इस प्रकार कबीर ने जन-जीवन को प्रभावित किया। लोगों को सरल और सात्विक ढङ्ग से रहने का मार्ग दिखलाया। अपने विचार शुद्ध रखने को कहा। उनका स्पष्ट मत था कि केवल ऊँची ऊँची बातों से काम नहीं चलता। उनको जीवन में बरतना भी चाहिये। जैसा कहना वैसा ही करना उचित है। धर्म के नाम पर की जाने वाली बुराइयों को उन्होंने प्रकट किया। आत्म-ज्ञान का

सीधा उपाय सूचित किया। उसके लिए कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं। अपने भीतर ही खोजने से वह मिल जायगा। उन्होंने आडम्बर के प्रति विरक्ति उत्पन्न की। यह उनकी बहुत बड़ी देन है। साथ ही वे बहुत ही ऊँची कोटि के कवि थे। उनकी कविता में अध्यात्म का सुन्दर ढङ्ग से निरूपण हुआ है। उनकी साखियाँ बहुत प्रचलित हैं। उनमें नीति की बातें प्रभावशाली रीति से कही गयी हैं। इससे लोग उनका उपयोग व्यवहार में भी करते हैं। उन्हें विविध अवसरों पर दृष्टान्त की भाँति कहा करते हैं।

उनका आचरण पुनीत था। वे अपनी बातें कभी-कभी कड़े शब्दों में कहते थे। उनमें लोक-हित की प्रेरणा ही रहती थी। इसी से उनका प्रभाव भी अच्छा पड़ा। लोगों ने उनका सम्मान किया। उन्होंने माघ सुदी एकादशी को संवत् १५७५ में शरीर त्यागा। पाँच सौ वर्ष पीछे अब भी उनका वैसा ही आदर किया किया जाता है। नहीं, पहले से कहीं अधिक श्रद्धा और प्रतिष्ठा के साथ उनकी वाणी पढ़ी-सुनी जाती है। एक बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है। कबीर हमारे देश के उन महापुरुषों में हैं जिनका नाम सदैव अमर रहेगा।

———

गुरु नानक

उन दिनों भारत मुसलमानों के अधीन हो गया था। उसका पश्चिमी अञ्चल तो उनका प्रधान गढ़ था। वहाँ के हिन्दू उनके अत्याचारों से ऊब उठे थे। वे जैसे-तैसे अपना धर्म निभाये जा रहे थे। तीर्थ, व्रत, मूर्ति-पूजा आदि करते, पर उनके तत्त्व को भूल गये थे। ये सब काम अन्ध-प्रथा के रूप में ही होते। अपने धर्म के सिद्धान्त उनकी आँखों से ओझल हो रहे थे। इस्लाम उनकी घात मे बैठा ही था। वह बहुतों को लोभ दिखा कर, भय से अथवा उनकी ही दृढ़ता की कमी से अपनी ओर कर भी चुका था। डर लग रहा था कि कहीं बचे खुचे लोग भी उसके पेट में समा न जायँ।

ऐसी डाँवाडोल स्थिति में लाहौर जिले के तिलवण्डी गाँव में एक बच्चा पैदा हुआ। संवत् १५२६ की कातिक की पूर्णिमा का चन्द्र विहँस रहा था। वह चार घड़ी तक आकाश में अपना पूरा प्रकाश छितरा चुका था। तभी महाभाग कालूराम खत्री की पत्नी त्रिपताजी की गोदी के चन्द्रमा के प्रकाश से उसके घर में उजाला हो गया। बालक के रोने की ध्वनि को मङ्गल गानों और बाजों ने सुनने न दिया। परन्तु बाहर कालूराम ने यह शुभ संवाद तुरन्त ही सुन लिया। उसके हर्ष का ठिकाना न था। उसने याचकों की झोलियां भर दीं। गांव का ज्योतिषी हरदयाल आया। उसने बच्चे के जन्म के समय का मुहूर्त देखा। विचारा। कुण्डली

बनायी। बतलाया— बालक बड़ा ही धर्मात्मा होगा। बहुत नाम पायेगा। इसका यश युग-युग तक बना रहेगा। पिता ऐसा ही पुत्र तो चाहता है जो उसका नाम उजागर करे। कालूराम के हृदय की कली खिल गयी। वह फूला न समाया। उसने ज्योतिषी को जी खोल कर दक्षिणा दी।

वह बालक नानक कहा जाने लगा। वह ऐसा प्रतापी हुआ कि आज तिलवण्डी गाँव उसी के नाम से 'ननकाना साहब' कहलाता है। हमारे लाखों-करोड़ों देश-वासियों के लिए यह तीर्थस्थान बन गया है। देश के टुकड़े हो जाने पर सन् १९४७ से यह स्थान विदेश पाकिस्तान में चला गया है। उसी छोटे से गाँव में नानक का बालपन बीता। उसी अवस्था में वे गम्भीर दिखलायी पड़ने लगे। कुछ बड़े होने पर अपने साथी बालकों से ज्ञान की बातें कहते सुने गये। लोगों को अचरज होता कि छोटा बालक कैसी ऊँची बातें करता है। सात बरस के होने पर नानक पाठशाला गये। गुरु ने पहाड़ा लिख दिया। उसे कण्ठाग्र करने का कहा। नानक बोले—गुरुजी, इस हिसाब के फेर में पड़ कर कोई सुखी नहीं हुआ। मुझे भगवान् का पाठ पढ़ाइये। वही सच्ची विद्या है। गुरु भौंचक्का हो देखता रह गया। उसे शिष्य नहीं, आज गुरु के दर्शन हुए। इस प्रकार नानक ने हिन्दी पढ़ना-लिखना प्रारम्भ किया। फिर दो वर्ष पीछे संवत् १५३५ में उनको संस्कृत पढ़ाने का प्रबन्ध हुआ। गुरु ने पाठ को आरम्भ करने से पहले ओङ्कार लिख दिया। जिज्ञासु नानक पूछ ही तो बैठे इसका अर्थ

क्या है? शिक्षक ने नानक की ओर देखा। बालक के मुँह पर जिज्ञासु की उत्सुकता और स्वाभाविक गम्भीरता विराज रही थी। कुछ काल उसी को देखता रहा। उसकी समझ में न आया कि कैसे समझाऊँ यह गूढ़ विषय। कोई उपाय न बन पड़ा। अन्त में उसने कहा—यह गहरी बात है। इसे तुम न समझोगे। बड़े होने पर जान जाओगे। परन्तु नानक ऐसे बहलने वाले न थे। उन्होंने कहा—अच्छा, थोड़ा बहुत ही बतला दीजिये। तब तो पण्डित जी आपे में न रहे। वे कह बैठे—भला, तू ही बता। तू क्या जानता है? नानक के पूर्व संस्कार प्रबल थे। उन्होंने ओङ्कार की ठीक और गम्भीर व्याख्या की। उसे सुन कर पण्डितजी के मुँह से बोल न निकले। उनकी आँखें खुल गयीं।

इस प्रकार नानक ने विद्या पढ़ने के दिन पूरे किये। वे सब के देखते पढ़ने की प्रथा का पालन करते रहे परन्तु अवसर मिलते ही बस्ती के बाहर निकल जाते। एकान्त वन में ध्यान लगा भगवान् की चिन्ता करते। पिता उनका यह रंग ढंग और कार्य देख कर चिन्ता में डूब जाते। वे सोचते कि क्या बेटा हाथ से निकल जायगा। होते होते नानक पन्द्रह वर्ष के हुए। पिता ने उन्हें घर के काम-काज में लगाना चाहा। एक दिन उनके हाथ में कुछ रुपये रख दिये। कहा—बेटा, जाओ, इनका सौदा मोल ले आओ। ज़रा और बढ़िया सौदा लाना। आज्ञाकारी नानक साथ में घर के नौकर बाला को ले कर चल पड़े। बीच में चूहड़काना गांव पड़ता था। वहां कुछ साधु-सन्त पड़े थे। उन्हें भोजन के लिए अन्न नहीं मिला था। नानक ने सोचा—भगवान के भक्त

भूखे रहें और मैं नमक का व्यवसाय करने के लिए गाँठ में रुपये बाँधे यह देखा करूँ! इससे बढ़ कर खरा सौदा और कहाँ मिलेगा जिसमें धन लगाया जाय। बस, उन्होंने उन सब भूखे सन्तों को भोजन करवाया। फिर वे घर लौट आये। जो हुआ था बाला ने सब सुना दिया। कालूराम के पास की पूँजी भी जाती रही।

ऐसे पुत्र को गृहस्थी में फँसाने के लिए कालूराम ने अपने बहनोई के पास सुलतानपुर भेज दिया। संवत् १५४१ में उसने नानक को नवाब के भाण्डार में नौकर रखा दिया। फिर संवत् १५४५ की जेठ सुदी नवमी को वटाला के मूलचन्द चोणा की कन्या सुलखनी (सुलक्ष्मी) से उनका गठबन्धन हुआ। सावन वदी पञ्चमी, १५५१ को उन्होंने अपने पहले पुत्र श्रीचन्द्र का मुंह देखा। फिर उनको गृहस्थी में पूर्ण रूप में फँसाने के लिए दो बरस पीछे दूसरे पुत्र लक्ष्मीदास ने जन्म लिया। अब उनके गृहस्थ हो जाने में किसी को सन्देह न रह गया। सब समझे कि नानक पूरे घरबारी हो गये। परन्तु उन्होंने अपने नित्य-नियम से कभी मुँह न मोड़ा। धर्म-कर्म, भजन-उपदेश और ध्यान-धारणा का क्रम बन्द न किया। इतना ही नहीं, संवत् १५५६ में उन्होंने घरेलू जीवन का बन्धन तोड़ने का सङ्कल्प कर लिया। साथ में सेवक मरदाना को लिया। साधु-वेश धारण किया। घर छोड़ दिया। घर छोड़ क्या दिया सारे देश को ही नहीं विदेश को भी अपना घर बनाया। पत्नी बिलखती रही। बच्चे भोले-भाले मुखड़े और डबडबायी आँखों से ताकते रह

गये। नानक के पैर आगे के लिए बढ़ चुके थे। वे पीछे क्यों कर फिरते। वे पञ्जाब से अब के उत्तर प्रदेश, अवध, बिहार, बङ्गाल होते हुए असम पहुँचे। वहाँ से कामाक्षा गये। फिर जगन्नाथ जी होते हुए भूपाल की ओर बढ़े। तब थानेश्वर होते हुए सुलतानपुर लौट गये। इस प्रकार नानक ने समस्त उत्तरी भारत का परिभ्रमण किया। देश के सभी प्रदेशों की दशा देखी। वहाँ लोगों को सच्चे सीधे ढंग से धर्म का रूप दिखलाया।

संवत् १५६७ मे वे फिर यात्रा के लिए निकले। इस बार वे दक्षिण की ओर गये और अजमेर होते हुए घर लौटे। उन्होंने तीसरी बार कर्त्तारपुर के पहाड़ी प्रदेश मे विचरण किया। चौथी बार वे देश के बाहर गये। बाला और मरदाना उनके सहचर थे। गुजरात होते हुए संवत् १५७५ मे वे मक्का गये। वहाँ वे प्रसिद्ध मस्जिद की ओर पैर करके सो गये। यह देख वहाँ का अधिकारी बिगड़ उठा। नानक शान्त रहे। बहुत कुछ कह चुकने पर वह चुप हुआ तब नानक बोले—मैं जिधर पैर करता हूँ उधर ही खुदा की दरगाह पाता हूँ। यह सारा संसार ही तो उनका मन्दिर है। यह सुन कर वह अधिकारी कुछ न कह सका। नानक ने मक्का में लोगों को कुछ इस प्रकार समझाया—सभी मनुष्य ईश्वर के बनाये हैं। सभी धर्म उसी के मिलने की राह बतलाते हैं। कोई एक-दूसरे का विरोधी नहीं। सब को परस्पर मेल और प्रेम से रहना चाहिये। हिन्दू-मुसलमान का भेद ईश्वर का बनाया नहीं। मनुष्य के बनाये भेद-भाव से आपस में बैर करना ठीक नहीं। मक्का से मदीना होते हुए नानक बगदाद पहुँचे। यहाँ

के खलीफा के कानों में उनकी सुजस-कहानी पहले ही पहुँच चुकी थी। उसने नानक का वड़ा सत्कार किया। चलते समय वहुमूल्य चोगा भेंट किया। उसके ऊपर कुरान की आयतें लिखी थीं। नानक उसे अपने साथ लेते आये। कहते हैं वह पञ्जाव में कहीं अव भी रखा है। उधर वगदाद में भी 'पीर' नानक का स्थान अभी तक है। वगदाद से ईरान होते हुए नानक वुखारा गये। वहाँ उनके सेवक मरदाना की जीवन-यात्रा पूरी हो गयी। वह उन्हें वहुत ही प्यारा था। उनके भजन वीणा के साथ सुनाया करता। इस प्रकार पर्यटन करते हुए संवत् १५७९ मे नानक स्वदेश लौटे। तव से इरावती के तट पर कर्त्तारपुर में रहे। उन्होंने आश्विन कृष्ण दशमी, संवत् १५९६ तक शेष जीवन घर में ही विताया। वहाँ पहले की भाँति वे भगवान् के प्रेम, ज्ञान और उपदेश से भरे भजन वनाते। लोगों को शिक्षा देते। उनके वहुत से शिष्य हो गये थे। वे सिक्ख कहलाये। नानक मन से विरागी होते हुए भी गृहस्थी से नहीं भागे। उन्होंने दिखला दिया कि सन्त वही है जो सदाचारी और भक्त हो। इससे सिक्खों के सम्प्रदाय मे गृहस्थी त्यागने और संन्यास लेने की चाल नहीं चली। गृहस्थी और संसार में आसक्ति न करना और अपना आचरण शुद्ध रखना—यह नानक ने अपने व्यवहार में कर दिखलाया।

यही सदाचार और भगवान् की भक्ति ही नानक की शिक्षा का सार समझिये। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान सव को एक-दूसरे से प्रेम का व्यवहार करना सिखाया। उनका मत था—

बाहरी आचार-व्यवहार धर्म का सच्चा रूप नहीं है, सच्चा और शुद्ध आचरण ही धर्म का प्राण है।

उनके कथनानुसार ज्ञानी, मुक्त और ब्रह्मलीन मनुष्य का लक्षण है—

अस्तुति निन्दा नाहि जिहि, कञ्चन लोह समान।
कह नानक सुन रे मना, मुक्ति ताहि ते जान।
हरख सोग जाके नहीं, बैरी मीत समान।
कह नानक सुन रे मना, मुक्ति ताहि ते जान।
भय काहू को देत नहिं, नहिं भय मानत आन।
कह नानक सुन रे मना, ज्ञानी ताहि बखान।
जेहि माया ममता तजी, सब ते भयो उदास।
कह नानक सुन रे मना, तेहि घट ब्रह्म निवास।

नानक भगवान् के भजन के बिना जीवन निरर्थक समझते हैं। उनका विचार है—

गुन गोबिंद गायो नहीं, जनम अकारथ कीन।
कह नानक हरि भजु मना, जेहि बिधि जल को मीन।

यह भजन तभी होता है जब भक्त के मन में उसके बिना ग्लानि उत्पन्न होती है और वह व्याकुल हो कर उठता है—

मन मैं कौन उपाय करौं।
जेहि बिधि मन को संसा चूकै भवनिधि पार परौं।
जनम पाइ कछु भलो न कीनो, ताते अधिक डरौं।
मन बच क्रम हरि गुन नहि गाये, यह जिय सोच धरौं।
गुरमति सुनि कछु ज्ञान न उपज्यो, पसु ज्यों उदर भरौं।

कह नानक प्रभु विरद पछानौ,[1] तब हौं पतित तरौं।

ऐसी तड़पन इसलिए होती है कि वह समझ जाता है कि जीवन क्षणभङ्गुर है। उसे यों ही न गँवाना चाहिये। वह सोचने लगता है—

मन रे कहाँ भयो तैं बौरा।
अहिनिसि औधि घटै नहिं जानै भयो लोभ सँग हौरा।[2]
जो तन तैं अपनो करि मान्यो अरु सुन्दर गृह नारी।
इनमें क्छु तेरो रे नाहिंन देखो सोच विचारी।
रतन जनम अपनो तैं हारयो गोविंद गति नहि जानी।
निमिख न लीन भयो चरनन सों विरथा औधि सिरानी।[3]
कह नानक सोई नर सुखिया राम नाम गुन गावै।
और सकल जग माया मोह्या निरभै पद नहि पावै।

यही राम का स्मरण भक्त का कर्त्तव्य है। तभी नानक ने सिखाया कि

राम नाम उर मैं गह्यो, जाके सम नहि कोय।
जेहि सुमिरत सङ्कट मिटै, दरस तुम्हारो होय।

इसलिए नानक ने कहा कि—

साधो, गोविंद के गुन गावो।
मानुस जनम अमोलक पायो विरथा काहे गँवावो।

---

१. प्रभु तुम अपना विरुद पहचानो। तुमने भक्तों के उबारने का बाना धारण किया है, उसी का स्मरण करो। २. हलका, पागल। ३. व्यर्थ ही जीवन की अवधि बीत गयी।

पतित पुनीत दीनबन्धु हरि सरन ताहि तुम आवो।
गज को त्रास मिट्यो जेहि सुमिरत तुम काहे बिसरावो।
तजि अभिमान मोह माया पुनि भजन राम चित लावो।
नानक कहत मुक्ति पंथ इह, गुरु मुख होइ तुम पावो।

नानक ने इस स्मरण और ध्यान का फल यह बतलाया है—

जो प्रानी गोविंद गुन गावै। सदा अनंदा परमगति पावै।
साधू संग सुमिर गोपाल। बिन नामै झूठा धन माल।
रूपवन्त सो चतुर सयाना। जेहि जन माना प्रभु का माना।
जग महँ आया सो परवान। घट घट अपना स्वामी जान।
कह नानक जाके पूरन भाग। हरि चरनन ता को मन लाग।

इस प्रकार भगवान् के प्रेम से यह दशा होती है—

राम रंग कदे[1] उतरि न जाइ, गुरु पूरा जिनु देइ बुझाइ।
हरि रँग राता सो मन साँचा, लाल रंग पूरन पुरख बिधाता।
संतन संग बैसि[2] गुन गाइ, ताका रंग न उतरै जाइ।
बिनु हरि सुमिरन सुख नहिं पाया, आन रंग फीके सब माया।
गुरु रँगे से भये निहाल, कहु नानक गुरु भये हैं दयाल।

इस रंग में रँग कर भक्त अपने सर्वस्व से कह उठता है—

तू मेरा सखा, तू ही मेरा मीत, तू मेरा प्रीतम तू संगि हीत[3]।
तू मेरी पति तू मेरा गहना। तुझ बिन निमिख न जाई रहना।
तू मेरे लालन तू मेरे प्रान। तू मेरा साहिब तू मेरा ग्यान।
ज्यों तुम राखहु त्यों ही रहना, जो तुम कहहु सोइ मोहि करना।

---

१. कभी। २. बैठ कर। ३. संगी, हितू, साथी और हितैषी।

तब वह अपने निश्चय को खुल कर यों कहता है—

मन रे नाम जपहु सुख होय।
गुरु पूरा साला हियें सहज मिलै प्रभु सोय!
भरम गया, भय भागिया हरि चरनन चित लाय।

यही भक्ति-भावना नानक की साधना की उपलब्धि है। उन्होंने भगवत्प्रेम को लेकर ऐसे ही भाव बहुत से पदों में प्रकट किये हैं। यही उद्‌गार उनकी कविता में मिलते हैं। उनकी कविता का सङ्ग्रह 'श्रीगुरु ग्रन्थ साहिब' में है। यही सिख सम्प्रदाय का धर्म-ग्रन्थ है। इसका पूजन और पाठ सिक्ख गृहों और गुरु-द्वारों में होता है। नानकदेव की वाणी ही सिक्ख मात्र को धर्म का मर्म समझाती और जीवन का मार्ग दिखलाती है। वे सिक्ख पन्थ के प्रवर्तक और आदि गुरु तो हैं ही, अपने उपदेशों के द्वारा आज कोई चार सौ वर्ष के अनन्तर भी उसके पथ-दर्शक हैं। सिक्ख ही क्यों, हिन्दू-मात्र ही अपनी परम्परा के पोषक होने के नाते उनके प्रति अत्यन्त अधिक आदर प्रदर्शित करते हैं। हिन्दू धर्म के रक्षकों में गुरु नानक का नाम सदैव सम्मान के साथ लिया जायगा।

अन्ध गायक सूरदास

कहते हैं एक दिन कोई मनुष्य कहीं तड़प रहा था। उसे क्षण भर को चैन न थी। उसकी यह दशा देख किसी ने पूछा—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत सरीर॥

बान की अनी चुभने से जैसी कसक होती है, ऐसे ही सूर की कविता समझदार के मन में बैठ जाती है। वह उनके भावों और वर्णन को पढ़ कर मग्न हो जाता है। झूमने लगता है। नाभादास कह भी गये हैं—

श्री सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।

इन सूरदास के जन्म के पहले ही सारा उत्तरी भारत मुगलों के वश में हो गया था। हिन्दुओं के राजा उनके साम्राज्य में विला गये थे। मुसलमान धर्म फल-फूल रहा था। उसका प्रभाव हिन्दुओं के विचारों और उनके रहन-सहन के ऊपर पड़ चुका था। सन्तों की निर्गुण उपासना चल रही थी। सूफियों की प्रेम भरी भक्ति-भावना भी लोगों को मोह चुकी थी। यहां के लोग अपने पुरातन धर्म का स्वरूप भूलने लगे थे। इसी समय बहुत से महात्मा प्रकट हुए। उन्होंने सगुण उपासना के पुराने विचारों का फिर से प्रचार किया। राम और कृष्ण की भक्ति प्रबल हुई। वल्लभाचार्य ने कृष्ण की पूजा-अर्चा का सम्प्रदाय चलाया। उन्होंने कृष्ण की लीला-भूमि को ही इस उपासना का केन्द्र

बनाया। गोवर्द्धन पर्वत के ऊपर श्रीनाथ की मूर्त्ति पधरायी। गोकुल, नन्दगाँव, बरसाना आदि में फिर कृष्ण के जीवन की झाँकी दिखलायी पड़ने लगी। ब्रज-मण्डल में कृष्ण-भक्ति की धूम मच गयी।

उन्हीं दिनों आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट में एक अन्धे साधु रहा करते थे। अनुमान है कि वे संवत् १५४० के लगभग उत्पन्न हुए थे। दिल्ली-आगरा की सड़क पर रुनकता (रेणुकाक्षेत्र) उनका जन्मस्थान था। बहुत से लोग दिल्ली के पास सीही को उनकी जन्म-भूमि बतलाते हैं। वे सारस्वत ब्राह्मण थे। जन्म से ही अन्धे थे। भगवान् के भक्त थे। उनके निर्गुण रूप के विनय सम्बन्धी पद गाया करते थे। संवत् १५६७ में किसी समय वल्लभाचार्य एक बार गऊघाट गये। वे अन्धे स्वामी भी उनके पास आये। आचार्य ने उनसे कहा—कुछ भगवान् का यश सुनाओ। इस पर स्वामी ने गाया—

हरि, हौं सब पतितन कौ नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक।
× × ×
होडा होड़ी मनहिं भावते किये पाप भरि पेट।
ते सब पतित पाय-तर डारौं, इहै हमारी भेट।
बहुत भरोसौ जानि तुम्हारौ अब कीन्हें भरि भाँड़ौ।
लीजे वेगि निवेरि तुरत हीं सूर पतित कौ टाँडौ।

यह सुन कर महाप्रभु ने कहा—तुम 'सूर' (वीर) हो कर भी ऐसी दीनता दिखलाते हो। कुछ भगवान् की लीलाओं का गान

करो। इसी समय से वे 'सूर' कहे जाने लगे। भक्त में दीनता होती ही है। अतएव वे सूरदास के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सूरदास की भक्ति-भावना से सन्तुष्ट हो वल्लभाचार्य ने उनको अपना शिष्य बनाया। उन्हें कृष्ण-मन्त्र की दीक्षा दी। अपने दिखाये 'पुष्टि-मार्ग' पर चलना सिखाया। उस भगवत्कृपा के मार्ग पर चलने के पहले सूरदास ने सम्प्रदाय की विधि से 'समर्पण' स्वीकार किया। अपना सर्वस्व—देह, इन्द्रियाँ, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, गृह, द्रव्य और अन्तःकरण, प्राण लोक, परलोक सब कुछ श्रीकृष्ण को अर्पित कर उनकी दास-भावना अपनायी। इसके अनन्तर महाप्रभु वल्लभाचार्य सूरदास के साथ गोवर्द्धन लौट गये। वहाँ उस समय तक श्रीनाथ जी की अष्टयाम पूजा के विविध कामों के लिए सेवक नियत हो चुके थे। कीर्तन करने वाले की कमी बनी थी। सूरदास मन्दिर में कीर्तन करने के लिए प्रधान नियुक्त हुए। अब वे निर्गुण का भजन-कीर्तन छोड़ नित्य सगुण लीला के पद गाने लगे। जान पड़ता है, इसी समय उन्होंने पहले-पहल गाया होगा—

> अबिगत गति कछु कहत न आवै।
> ज्यौं गूँगे मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै।
> परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै,
> मन बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
> रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै?
> सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन लीला पद गावै।

कहने का अभिप्राय—निर्गुण भाव का अनुभव मन ही में,

वर्णन करना सम्भव नहीं। वह तो गूँगे का गुड़ है, जिसके स्वाद का ज्ञान वाणी से प्रकट नहीं किया जा सकता। उस रूप, गुण से रहित निराकार, निर्गुण के पीछे दौड़ने के लिए कोई अवलम्ब नहीं। वह अगम—पहुँच से परे—है। यह समझ सूर सगुण लीला का गान करता है।

गोवर्द्धन के श्रीनाथजी सूरदास के इष्टदेव हुए। उनके सामने वे कृष्ण की लीलाओं के गीत गाते। परन्तु रहते गोवर्द्धन के पास ही पारसोली गाँव में चन्द्र सरोवर पर। वहीं शवायु हो कर संवत् १६४० के लगभग उन्होंने शरीर-त्याग किया। उस समय उन्होने यह पद कहा था—

खंजन नैन रूप-रस माते।
अति सै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवनन के उलटि उलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन-गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ जाते।

वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का श्रीकृष्ण-चरित सूरदास को सुनाया और समझाया। वही सूर के पदों का आधार बना। वे श्रीनाथजी के सामने नित्य कीर्तन करते। प्रत्येक समय की लीला के पद बनाते। जिस समय जैसा भाव उठता उस समय वैसा ही लीला-गान करते। उन्होने एक ही लीला का वर्णन अनेक बार किया था। इससे एक ही प्रसङ्ग के बहुत से पद बनते गये। उनमें भाव, दशा वा घटना प्रायः एक ही है, किन्तु सब का उक्ति-सौन्दर्य अलग-अलग है। इसीसे वे सब अनूठे हैं। सुना जाता है कि सूरदास ने सवा लाख पदों

की रचना की थी। खेद है वे सब अभी तक नहीं मिल सके। फिर भी जो आठ-दस सहस्र के लगभग पद प्रचलित हैं उन्हीं से उनकी कविता की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

सूरदास की कविता के कई ग्रन्थ प्रचलित हैं। उनमे साहित्य लहरी, सूरसारावली और सूरसागर मुख्य हैं। साहित्य लहरी में दृष्टिकूट पद हैं। इसमें श्रीकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन है। सूरसारावली मे भी श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान है। इसमे ऐसे पद भी हैं जो उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार नित्य और वर्षोत्सव की सेवा के समय गाये थे। सूरसागर उनका सबसे प्रधान काव्य है। उससे उनकी कीर्त्ति सदा बनी रहेगी। इसमें कुछ विनय सम्बन्धी पद भी हैं। कुछ पद ऐसे हैं जो उन्होंने सम्भवतः वल्लभाचार्य की शरण मे आने के पहले बनाये थे। बहुत से पदो मे श्रीकृष्ण से विनय की गयी है। इनका ढङ्ग भी वही है जो अन्य भक्तो का। इनमे सूरदास संसार के आवागमन से छुटकारा पाने की विनती करते हैं। परन्तु 'सूर-सागर' के मुख्य अंश में बारह स्कन्ध हैं। इसकी कथा का आधार श्रीमद्भागवत है। पहले स्कन्ध में भागवत की रचना के सूत्रपात के पश्चात् नाम-माहात्म्य और महाभारत की कथा सम्बन्धी पद उल्लेखनीय हैं। इनमें भक्त के दैन्य सम्बन्धी पद बहुत ही सरस हैं। आगे के स्कन्धों में विविध अवतारों की कथा बहुत ही संक्षेप में, किन्तु नवें में राम-चरित अधिक विस्तार पूर्वक गाया गया है। इन पदों में कथा-प्रबन्ध का निर्वाह हुआ है। कुछ ऐसी उक्तियाँ हैं जो मन में घर कर लेती हैं।

यहाँ से आगे दसवें स्कन्ध में श्रीकृष्ण की लीला प्रारम्भ होती है। ग्यारहवें और बारहवें स्कन्धों की कविता भी सामान्य है। दशम स्कन्ध ही सूरसागर का प्राण है और है सूरदास का सर्वस्व। इसमें भगवान् के 'बाल विनोद भावती लीला' का विस्तारपूर्वक वर्णन है। शेष सूरसागर में तो वे केवल कथाकार हैं, किन्तु यहाँ वे हृदय के सच्चे पारखी हैं। उन्होंने उसकी कोमलतम वृत्तियों को प्रत्यक्ष करने के लिए जम कर कविता-सुन्दरी को सँवारा है। जन्म से ले कर मथुरा जाने तक कृष्ण के बचपन और किशोरावस्था की लीलाओं का कोई ऐसा प्रसङ्ग नहीं जो न दिखलाया हो। कारा के भीतर देवकी की गोद कृष्ण से भरी अवश्य, किन्तु वहाँ पुत्रोत्सव की धूम देखने के लिए अवसर कहाँ? वह तो गोकुल में दिखलायी पड़ी नन्द के घर में। वह उनके प्रकट होते ही मङ्गल गानों और बाजों से गूँज उठा। यशोदा का आनन्द उस समय मुखरित हुआ जिस समय वे सूतिका-गृह से निकलीं। तब

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदिरिया, काहें न आनि सुवावै।
तू काहें नहिं बेगिहिं आवै, तो कौं कान्ह बुलावै।

कभी एकान्त में—

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं कब तोतरैं मुख बचन झरै।

कब नंदहि बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं ररै।
कब मेरो अँचरा गहि मोहन, जोइ सोइ करि मोसों झगरै।
कब धौं तनक तनक कछु खैहै, अपने कर सों मुखहिं भरै।
कब हँसि बात कहैगो मोसों, जा छवि तें दुख दूरि हरै।

माँ की, सो भी बुढ़ापे में बच्चे का मुंह देखने वाली माँ की, कैसी स्वाभाविक उत्कण्ठा यहाँ कवि ने दिखलायी है!

अब यशोदा की मनचीती कृष्ण की बाल-लीलाएँ प्रारम्भ होती हैं। इन्हीं के चित्रण के कारण सूर बचपन के वर्णन करने वाले कवियों में सबसे बढ़ कर माने गये हैं।

कृष्ण कुछ बड़े हुए तब उनकी नटखटी देखने बनती है। वे अकेले ही नहीं, साथियों की टोली ले कर लोगों के घर सूने पा कर उनमें घुस जाते। वहाँ माखन खाते, दूध दही गिराते और सोते हुए बच्चों के कान में फूँकी दे कर भाग खड़े होते। बच्चों का रोना-चिल्लाना सुन कर गोपियाँ दौड़ी आतीं। घर की दशा देख कर मन ही मन प्रसन्न होतीं। वे छिप कर इस ताक में रहतीं कि वे कृष्ण को पकड़ कर यशोदा के पास ले चलें, देखें कैसे बचते हैं। सो, एक दिन कृष्ण पकड़े ही तो गये। मुंह में दही लगा था। हाथ में मक्खन का दोना था। इसी दशा में माँ के सामने उपस्थित हुए। गोपी ने उनके हाथ कस कर पकड़ रक्खे थे। यशोदा ने छड़ी सँभाली। वे कातर नेत्रों से माँ की ओर देखते हुए तत्क्षण बोल ही तो उठे—

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरैं मुख लपटायौ।

देखि तुही छींके पर भाजन ऊँचे धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपने मैं कैसें करि पायो?

गोपी इस भोली सफ़ाई को सुन मुग्ध हो गयी। उसके हाथ से कृष्ण के हाथ छूट गये। कृष्ण को भाग्यवश अपने अपराध के प्रत्यक्ष प्रमाण को मिटा देने का अवसर हाथ लगा। चट

मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठि दुरायो।

बस, यशोदा का क्रोध जाता रहा। तुरन्त ही

डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहि कंठ लगायो।

ऐसी ही अगणित बाल-सुलभ-चेष्टाओं का प्रदर्शन सूर ने सरस पदों में किया है। इन उदाहरणों को सूरसागर के थोड़े से मोती समझिये। इन्हीं बाल-लीलाओं के बीच श्रीकृष्ण बड़े हुए। व्रज के ग्वाल ले कर गोचारण के लिए जाने लगे। उनका सौन्दर्य अपूर्व था। उन्हें देखने के लिए सब के नेत्र तरसते। सन्ध्या समय गायें ले कर उनकी मण्डली लौटती। गलियों में खड़ी भीड़ उनके गोप-वेश को निहारती रह जाती। कृष्ण गोप-कुमारों के साथ खेलते, खाते और आनन्द मनाते। वे मुरली बजाते। वन में रास करते। व्रजवासी उसका भी सुख लूटते। गोकुल का जीवन यों ही आनन्द में बीतता। परन्तु ये दिन सदा कब रहते। कृष्ण मथुरा गये। गोकुल में उदासी छा गयी। नन्द, यशोदा, राधा और दूसरी गोपियों के ऊपर वज्र टूट पड़ा। उनके विषाद का वर्णन करने में भी इस अन्धे गायक ने पूरी सफलता पायी है। कभी यशोदा खीझ कर नन्द से कहती है कि जिस समय श्रीकृष्ण

छाँडि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो?
फाटि न गयी वज्र की छाती, कत यह सूल सह्यो?

उलट कर नन्द डाटते हैं—

तब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगे कहि जो आवत, अब लै भाँडे भरति!
रोस कै कर दाँवरी लै फिरति घर घर धरनि।
कठिन हिय करि तब जो बाँध्यो, अब वृथा करि मरनि!

यशोदा के वात्सल्य का यह भाव भी दर्शनीय है। वे मथुरा जाने वालों से कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।
तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लडैतहि माखन रोटी भावै।
अब यह सूर मोहिं निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लडैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच।

उद्धव-गोपी प्रसङ्ग में सूर ने इसी वियोग दशा की मार्मिक व्यञ्जना की है। कोई गोपी उद्धव की अटपटी बातें सुन कर उनकी हँसी उड़ाती है—

ऊधो, जाहु तुम्हैं हम जाने।
साँच कहौ, तुमको अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाये तब नेकहु मुसकाने?

कभी उनकी बतलायी निर्गुण-उपासना को व्रज के लिए निरर्थक बतला कर कहती है—

ऊधो, ब्रज में पैंठ करी।
यह निर्गुन निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी।
नफा जानिकै ह्याँ लै आये सबै वस्तु अकरी।

भ्रमरगीत के प्रसङ्ग में सूर ने भक्ति और प्रेम की धारा ही बहा दी है। गोपियों की अनन्य प्रीति के सामने उद्धव के ज्ञान का गुमान जाता रहा। वे रो पड़े उनका कृष्ण के लिए यह सन्देश सुन कर

ऊधो, इतनो कहियो जाय।
अति कृस गात भई हैं तुम बिन बहुत दुखारी गाय।
जल समूह बरसत अँखियन तें, हूँकति लीन्हें नावँ।
जहाँ जहाँ गोदोहन कीन्हो ढूँढति सोइ सोइ ठावँ।

श्रीकृष्ण के प्रति गोपी-प्रेम का चित्रण सूरदास ने जी खोल कर किया है। उनका एक-एक पद पढ़ते-पढ़ते गला भर आता है। उन्होंने इन कृष्ण-लीलाओं को तन्मय हो कर, हृदय की वीणा के साथ, गाया था। इसी से इनमें अपने वश में करने की अपूर्व शक्ति है। जिसने इनको सुना वह इन्हें ही सुनता रहा। आज भी जो इन्हें पढ़ता है वह बारबार पढ़ने पर भी कभी नहीं अघाता। यही है, इस कवि की श्रेष्ठता की पहचान। आज भी इसकी वीणा की झङ्कार की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है। लोग उसको सुनने के लिए सदा कान उठाये रहते हैं। ब्रजभाषा के कवियों में इनकी बराबरी करने वाला दूसरा नहीं हुआ।

धर्मप्राण तुलसीदास

तप के तेज से दमकता हुआ ललाट। उस पर देदीप्यमान रामानन्दी तिलक। आँखों में अटल विश्वास का प्रकाश। लम्बी भुजाओं में कमण्डलु। एक दाढ़ी वाले का यह रूप। उसने काशी में राम-मन्त्र का घोष किया। मृत-प्राय जाति को चेतना हुई। उसमें शक्ति का सञ्चार हुआ। अकबर का सर्व-ग्रासी प्रयास उसके सामने कुण्ठित हो गया। उसकी दीन-इलाही की आड़ में भारतीयों को आत्मसात् कर जाने वाली नीति ने उसके सामने घुटने टेक दिये। जनवाणी ने जय-निनाद किया—धन्य तुलसीदास!

ये थे तुलसीदास, जिन्होंने अपने युग की प्रगति की दिशा ही बदल दी थी। संवत् १५५४ में सावन बदी तीज का दिन भारतीय इतिहास में चिर-स्मरणीय है। उसी दिन चित्रकूट से कुछ दूर राजापुर में तुलसी ने जन्म ग्रहण किया। यह स्थान उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले की मऊ तहसील में जमुना के दाहिने किनारे बसा है। तुलसी के पिता आत्माराम दुबे पराशर गोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण थे। उनकी माता हुलसी इनको जन्म दे कर तुरन्त ही चल बसीं। तब दासी मुनिया ने इनको पाला-पोसा। पाँच बरस पीछे वह भी न रही। तब बालक रामबोला निराश्रित हो गया। वह इधर-उधर से मिली भीख से पेट पालने लगा। भाग्य से वह रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्य महात्मा

नरहरिदास से मिला। उन्होंने उसको साथ ले लिया। उसे तुलसीदास नाम और राम-मन्त्र का उपदेश दिया। वैरागी नहीं बनाया। फिर उसे अपने काशी के स्थान में ले गये। वहाँ पञ्चगङ्गा पर शेष सनातन पण्डित रहते थे। बड़े ही विद्वान् थे। तुलसी की प्रतिभा देख कर नरहरिदास ने इन्हीं शेप सनातन के पास उनके पढ़ने का प्रबन्ध कर दिया। वे पन्द्रह बरस तक नियमित रूप से अध्ययन करते रहे। व्याकरण, वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, इतिहास, पुराण, काव्य, नाटक आदि के पारदर्शी विद्वान् हो गये। उधर अपने गुरु के आश्रम में राम-भजन करते और राम-कथा सुनते रहते। गुरु के साथ तीर्थयात्रा में भी जाया करते। सरयू-घाघरा के सङ्गम पर फैजाबाद-बहराइच की सीमा मिलती है। वहाँ पसका गाँव है। वहाँ आज भी बाराहजी का मन्दिर है। उसी को सूकरक्षेत्र कहते थे। वहाँ पूस के महीने मेला लगता है। अवध के लोग पुराने समय से वहाँ जाया करते हैं। रामानन्दी वैरागी साधु-महात्मा भी जाते हैं। नरहरिदास यों तो नित्य ही राम-कथा कहते, और तुलसी सुनते, किन्तु इस सूकर-में उस कथा के सुनने की बात वे नहीं भूल सके। कहते हैं—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।

राम-भक्ति और शास्त्र-ज्ञान की प्राप्ति करके तुलसीदास गुरु की आज्ञा से राजापुर लौटे। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए। दीनबन्धु पाठक ने अपनी पुत्री रत्नावली का उनसे व्याह कर दिया। वह बड़ी ही सुन्दरी और गुणवती थी। तुलसी उससे बहुत प्रेम

करते थे। उसके बिना उन्हें कुछ न अच्छा लगता। एक दिन तुलसी घर में न थे। रत्नावली का भाई आया। वह उसे मायके ले गया। घर आने पर तुलसी ने यह बात सुनी। वे भी तत्काल ससुराल चल पड़े। अपने पीछे-पीछे ही पति को आया देख रत्नावली लज्जित हुई। उसने सोचा न जाने यहाँ के लोग क्या कहेंगे। परिणाम सोचे बिना ही उसके मुँह से निकल पड़ा—मेरे पीछे इस तरह दौड़े चले आये लाज नहीं लगी। मेरे प्रति जैसा प्रेम है वैसा राम से करते तो संसार से छुटकारा पा जाते। तुलसी के हृदय को धक्का लगा। उन्होंने सोचा—बालकाल से राम की आराधना की थी। अब उसे छोड़ स्त्री के पीछे पागल हो रहा हूँ। वह इस प्रकार तिरस्कार करती है। और फिर ठीक ही तो कहती है—राम के प्रेम से भवसागर से उद्धार होगा। तुलसी उलटे पाँव चल दिये। रत्नावली ने समझा यों ही लौट रहे हैं। कुछ दिनों के पीछे लोगों ने बतलाया कि तुलसीदास वैरागी हो गये। उस समय वे तीस वर्ष के युवा थे।

अब तुलसी राम की भक्ति की सच्ची-साधना में लगे। राम-भजन करते हुए तीर्थ-यात्रा के लिए चल पड़े। काशी से अयोध्या गये। फिर जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम, द्वारका, बदरीनाथ, कैलाश, मानसरोवर होते हुए चित्रकूट पहुँचे। इस प्रकार समस्त भारत का भ्रमण करके उन्होंने उसकी दशा देखी—देश कैसे गिर गया था। राजशक्ति विदेशियों के हाथ में जा पहुँची थी और देशी राजाओं की दुर्दशा थी। ब्राह्मण-समाज पतित हो गया था। निम्न वर्ग के लोग [illegible] करने लगे थे। धर्म उपेक्षा

और पाखण्ड-मात्र रह गया था। साधु-पण्डित, नर-नारी सभी अपना-अपना धर्म भूल गये थे। तुलसी ने सोचा कि देश अपनी परम्परा भूल गया तो फिर उसकी संस्कृति मिट जायगी। उनके लिए राम की भक्ति केवल परलोक बनाने का साधन न रही। वह इस लोक के कर्त्तव्यों का पालन करने में सहायक के रूप में दिखलायी पड़ी। राम का आदर्श चरित जीवन में उतर आये तो सब बन जाय। लोक भी और परलोक भी। उसी को उन्होंने संसार-यात्रा का अवलम्ब बनाया।

तुलसी सर्वशास्त्रज्ञ तो थे ही। उनको मथ कर उनके तत्व को पा चुके थे। उनका सार ही तो भारतीय धर्म था। उसी को उन्होंने रामचरित के साँचे में ढाल दिया। फिर रामचरित मानस रूपी रसायन को तैयार किया। उसे खिला कर मृतप्राय भारतीय जाति को चेताया। यह अनूठा काव्य उन्होंने अपने ही प्रदेश की बोलचाल की भाषा अवधी में लिखा। इससे इसके समझने में सर्वसाधारण को बड़ा सुभीता हुआ। सब ने झट उसे अपना लिया। वह घर-घर में पहुँच गया। उसमें अपने धर्म के व्यवहार और अध्यात्म दोनों पक्षों की सब आवश्यक बातें थीं। इससे सामान्य-जन के साथ ही विद्वानों ने भी उसका आदर किया। उसमें कोरी भक्ति की लम्बी-चौड़ी अथवा भाव भरी बातें न थीं। साथ ही ऐसी बातें भी न थीं जिनके पीछे बड़े-बड़े विद्वान् माथापच्ची करते और फिर भी जिन्हें सुलझा न पाते। उसमें राम के लौकिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों का विशद चित्रण है। इससे लोगों को उनके आदर्श के अनुसार चल कर संसार

में सफलता-पूर्वक जीवन बिताने का प्रशस्त पथ मिला। परन्तु यह लोक ही सब कुछ नहीं। इसमें लिप्त हो जाने पर पथ-भ्रष्ट हो जाने का डर है। अतएव राम की शरण में आने से परलोक भी बनता है—यह रामचरितमानस के कथा-क्रम ने प्रत्यक्ष किया। अतएव रामचरितमानस जीवन की सम्पूर्णता के लिए सहायक हुआ। तभी उसने आज भी काव्य और धर्म-शास्त्र दोनों का स्थान प्राप्त कर रखा है। उसमें उच्चकोटि का, सभी अङ्गों से पुष्ट कवित्व है। साथ ही भारतीय धर्म का श्रेष्ठतम स्वरूप भी मिलता है—ऐसा धर्म जो किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं, सब श्रेणियों और सब स्थितियों के लोगों के लिए है। इतना ही नहीं, यह धर्म केवल चिन्तन अथवा भावों में डूबे रहने के लिए नहीं, किन्तु व्यवहार के लिए है। उसके अनुसार चलने से समाज का ढाँचा बना रहता है, वह कहीं से टीला नहीं हो पाता। यही तुलसी के रामचरितमानस की स्थायी देन है। इसी के कारण वह युग-युग से हमारे समाज में इतना आदर प्राप्त करता आ रहा है और युग-युग तक ऐसा ही नहीं, इससे भी बढ़कर सम्मान पाता रहेगा।

इस प्रकार तुलसी भक्त, कवि और लोकनायक के रूप में हमारे बीच प्रतिष्ठित हैं।

तुलसीदास ने 'स्वान्तः सुखाय' (अपने आनन्द के लिए) कविता अवश्य की, किन्तु कविता के विषय में उनका सिद्धान्त यों था—

कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

अर्थात् जिस कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य से गङ्गा के समान सब का भला न हो उससे कोई काम नहीं निकलता। और सब के हित के लिए तुलसी ने राम को चुना था। इसी से कविता भी उन्हीं को ले कर की। उनका स्पष्ट मत था—श्रेष्ठ कवि की रचना भी राम के सम्बन्ध में न हो तो उससे लोक-कल्याण न होगा—

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ, राम नाम बिन सोह न सोऊ।

इसीसे उन्होंने नर-चरित्र नहीं लिखा। उनके राम नर होते हुए भी नारायण थे। वही उनके काव्यों के आधार बने। रामचरित मानस के अतिरिक्त कवितावली, गीतावली, रामललानहछू, बरवै रामायण, जानकी मङ्गल और रामाज्ञा प्रश्न में भी श्री रामचन्द्र का ही चरित है। ये काव्य विविध छन्दो और शैलियो में रचे गये हैं। इनसे तुलसीदास ने विविध रुचियों और समाज के विविध वर्गों के प्राणियों की तृप्ति की और उन्हें राम की भक्ति के प्रति आकृष्ट किया। वैराग्य-सन्दीपनी, दोहावली और विनयपत्रिका में उनके नीति और भक्ति सम्बन्धी उद्‌गार हैं। इनमें भी कवि ने भक्त की अनन्यता और भगवान् राम के सामर्थ्य का प्रभावशाली प्रदर्शन किया है। इनके अतिरिक्त पार्वती मङ्गल में शिवपार्वती के विवाह का तथा श्रीकृष्ण गीतावली में श्रीकृष्ण की बाल और कैशोर लीलाओं का वर्णन है। शिव और कृष्ण राम से भिन्न नहीं हैं—यह तुलसी का सिद्धान्त है। इसी से इनके सम्बन्ध के काव्यों से तुलसी की राम-भक्ति की अनन्यता में कोई बाधा नहीं पहुँचती। ये सभी काव्य कवित्व के विचार से श्रेष्ठ हैं। हिन्दी का कोई दूसरा कवि नहीं जिसने

अवधी और व्रज दोनों में कविता की हो। फिर तुलसी ने बोल-चाल की घरेलू अवधी में भी कविता की है और साहित्यिक प्रौढ अवधी में भी। रामलला नहछू, जानकी मङ्गल, पार्वती मङ्गल और बरवै रामायण में व्यवहार की अवधी भाषा की मिठास है। रामचरितमानस में तो अवधी का सबसे निखरा हुआ, प्रौढ और संस्कृत रूप मिलता है। वह अवधी का सबसे श्रेष्ठ महाकाव्य है। कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्ण गीतावली और विनयपत्रिका व्रजभाषा के उत्कृष्ट काव्य हैं। तुलसी के समय तक काव्य रचना की जितनी शैलियाँ प्रचलित थीं वे सब भी तुलसी की कृतियों में निखर उठी हैं। इन्हें छप्पय, कवित्त, सवैया, सोहर, बरवै, दोहा-चौपाई, गीत आदि सभी छन्दों का प्रयोग करने में समान रूप से सफलता मिली है। कवितावली के छप्पय, कवित्त-सवैया पढ़ते समय लगता है कि तुलसी से बढ़ कर कौन इनमें कविता लिखेगा। पार्वती मङ्गल और जानकी मङ्गल के सोहर छन्द तो आज भी उत्तर प्रदेश के पूरबी अञ्चल के घर-घर में घर किये हैं। इनकी नितान्त अनूठी है। बरवै पूरबी अवधी का प्रिय छन्द है। इसमें रची बरवै रामायण बड़ी प्रिय है।

तुलसी ने राम का समग्र जीवन काव्य का विषय बनाया है। इससे उनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। जीवन का कोई पक्ष ऐसा नहीं, कोई दशा ऐसी नहीं, कोई स्थिति ऐसी नहीं, जिसका तुलसी ने मार्मिक और साङ्गोपाङ्ग रूप न प्रस्तुत किया हो। समाज के प्राणियों के सिद्धान्त, आदर्शनीति, धर्मकर्म,

स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, मित्र-शत्रु आदि जितने भी सम्बन्ध हो सकते हैं उन सब को तुलसी ने प्रत्यक्ष कर दिया है। जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसङ्गों का चित्रण करने का अवसर तुलसी ने कभी नहीं छोड़ा। उनका विशद रूप से ऐसा स्वाभाविक वर्णन किया है कि उसे पढ़ते-पढ़ते लोग मग्न हो जाते हैं। कभी राम के जन्म और विवाह के समय के आनन्द में अपने को खो बैठते हैं तो कभी उनके वनवास के समय दशरथ, कौशल्या, भरत आदि के विलाप में अयोध्या-वासियों के समान ही आँसू बहाते हैं, तो कभी सीता-हरण अथवा लक्ष्मण के शक्ति लगने के समय राम की नाईं फूट-फूट कर रोते हैं। तुलसी की कविता ने समस्त उत्तर भारत को राम-मय कर दिया है। राम उसके जीवन के सुख-दुःख के सङ्गी हो गये हैं। असंख्य लोग रामचरितमानस, विनयपत्रिका आदि को नित्य पढ़ते हैं, और गाँव-गाँव मुहल्ले-मुहल्ले नित्य रामचरितमानस की कथा कहते-सुनते हैं। ऐसा व्यापक प्रभाव कदाचित् ही संसार के किसी दूसरे काव्य का हो। भारतीय जीवन के रस को बनाये रखने में रामचरितमानस ही समर्थ हुआ है।

जीवन के लिए यह काव्यानन्द बड़े काम का है। किन्तु इसमें ही डूबने-उतराने से काम नहीं चलता। तुलसी की कविता ने अत्युत्तम काव्यों की रचना करके लोकोत्तर आनन्द प्रदान किया। यदि उनकी यही देन होती तो भी उनका यश युग-युग तक बना रहता। किन्तु उन्होंने तो इसके अतिरिक्त और बहुत कुछ किया। इन काव्यों ने भारतीय जीवन के लिए आश्रय का काम किया।

ऊपर कहा जा चुका है कि तुलसी के समय में हमारे जातीय जीवन में उथल-पुथल मची थी। समाज की शृङ्खलाएँ टूट रही थीं। वर्ण-व्यवस्था का आदर्श मिट गया था, केवल ढाँचा रह गया था। विविध धार्मिक सिद्धान्तों और अनेक देशी-विदेशी सम्प्रदायों की उपासना-पद्धति चल पड़ी थी। सामान्य जन उनके जाल में उलझ गये थे। उससे निकलने का मार्ग नहीं पा रहे थे। तुलसी ने यह सब देखा। उन्होंने पुराने सन्तों, महात्माओं आदि के समान अपने विचारों के अनुसार नया पन्थ नहीं चलाया। चाहते तो ऐसा कर सकते थे। कारण, उनकी तपस्या और विद्वत्ता में ऐसी शक्ति थी कि उनके कोटि-कोटि अनुयायी उनके नाम से चले धर्म को ग्रहण भी कर लेते। परन्तु तुलसी तो इस देश के पुरातन आचार, विचार और साधन बचाते थे। वे यह भी जानते थे कि वे सब रहन-सहन के ढङ्ग और धार्मिक विचार एकदम हटाये नहीं जा सकते जो समय की गति और परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण उस समय प्रचलित थे। अतएव उन्होंने उनको मिटाने का विचार न किया, किन्तु निश्चय किया कि उनमें जो अनुचित, अनावश्यक अथवा अवाञ्छित हैं उन्हें छोड़ देना चाहिये। जो रीति-नीति ठीक नहीं उसके स्थान पर उचित प्रणाली को ग्रहण करना ही श्रेयस्कर होगा। यह समझ कर उन्होंने प्रचलित बातों में कुछ को ग्रहण किया, कुछ का त्याग किया। बीच का मार्ग अपनाया। यह सम्भव न था कि शूद्र [illegible] आगे चलें तो समाज में स्थान न दिया जाय, और [illegible] के पद से [illegible] किसी को [illegible] समझा जाय। इसमें उन्होंने साधना और ज्ञान का

भक्ति की श्रेष्ठता बतलायी। इनके होने से ही कोई व्यक्ति महान् हो सकता है। ऐसे ही, घर-बार छोड़ कर वैरागी होने से ही कोई व्यक्ति उच्च नहीं हो सकता। समाज के सन्तुलन के लिए सब का गृहत्याग उचित भी नहीं। 'नारि मुई गृह संपति नासी, मूँड़ मुड़ाय होहिं संन्यासी'—यह आचरण ठीक नहीं। इसलिए तुलसी ने कहा कि अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करने से समाज की व्यवस्था बनी रह सकती है—समय आने पर संन्यास लेना बुरा नहीं, और समय से पहले घर छोड़ना बुरा है। इस प्रकार गृहस्थ धर्म और साधु-धर्म में सामञ्जस्य होना चाहिये। ज्ञान और भक्ति के अलग-अलग सिद्धान्त हैं। उनमें परस्पर विरोध जान पड़ता है। इसी कारण उनके मानने वाले एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। यही दशा तुलसी के समय में भी थी। इसे ठीक करने के लिए उन्होंने दोनो की खींचातानी की बातें हटा कर मूल की एकता का प्रतिपादन किया। इससे ये दोनों साधन-पथ एक-दूसरे की कमी-पूर्ति करने में सहायक सिद्ध हुए। ऐसे ही, जीवन के व्यवहार के सभी क्षेत्रों मे समरसता लाने का प्रयत्न करके तुलसी ने उस समय के जन-समुदाय को पथ प्रदर्शित किया। इसी से वे सच्चे लोक-नायक हैं। उनकी समता केवल राजनीतिक लोक-नेता नहीं कर सकता। उसका प्रभाव बहुधा अपने जीवन काल तक ही रहता है और दूसरे जननायक के सामने फीका पड़ जाता है। राजा और सम्राट् का प्रभाव भी स्थायी नहीं होता। वह अपनी स्मृति मात्र छोड़ कर समय-सागर के पेट में विलीन हो जाता है। परन्तु तुलसी जैसे कवि और धर्मरक्षक नायक का

प्रभाव समय की सीमा को लाँघ जाता है। उन्होंने अपने युग के विचारों और जीवन को प्रभावित किया। वह प्रभाव आज सैकड़ों बरस पीछे भी भारतीय समाज पर व्याप्त है। आज के सामाजिक जीवन और आदर्श बहुत कुछ तुलसी के द्वारा निर्मित हैं। इसी से तुलसी भारतीय संस्कृति के उन्नायकों और रक्षकों की श्रेणी में बहुत ही ऊँचे स्थान पर विराजते हैं।

इन्होंने अपना भौतिक शरीर काशी में संवत् १६८० में त्यागा। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सत्तमी, तुलसी तज्यो शरीर।



गुरु गोविन्दसिंह

चिड़ियों से मैं बाज नोचाऊँ—कौन कह सकता है? वही जो चिड़ियों के समान निरीह, सरल और असमर्थ मनुष्यों को समर्थ बना सकता है। ऐसे ही समर्थ ने यह जयघोष प्रचलित किया—जो बोले सो निहाल, सत श्री अकाल। अकाल—अमर-पुरुष को मानने वाला कभी काल—मृत्यु—से डरता है? जब काल का डर जाता रहा तब फिर किसका डर? इस विधि से कृषि, व्यापार और दूसरे धन्धों में लगे धर्मभीरु सिक्खों को किसने प्रबल योद्धा बनाया था? सिक्ख पन्थ के इस नेता को कोई नौ वर्ष की अल्प वय में ही गुरु बनना पड़ा था। कैसे? औरङ्गजेब के सताये कुछ लोग एक दिन गुरु तेगबहादुर के पास आये। गुरु से अपनी दुर्दशा सुना कर बोले—हमारा धर्म बचाइये। गुरु ने सोचा—अपना बलिदान किये बिना धर्म-रक्षा न होगी। इसी से भारतीय धर्म और जाति का कल्याण होगा। वे चिन्ता में मग्न हो गये। यह देख कर बालक गोविन्दसिंह ने पूछा—पिताजी, किस सोच में पड़े हैं? गुरु तेगबहादुर ने उत्तर दिया—बेटा, इस समय देश, जाति और धर्म के लिए किसी महान् आत्मा का बलिदान चाहिये। बालक चट बोल उठा—तो आपसे बढ़ कर कौन महान् आत्मा संसार में है? गोविन्दसिंह की बात सुन कर गुरु की बाछें खिल उठीं। फिर कुछ दिनों के पीछे ही उनका अमर बलिदान हुआ। बाल-गुरु ने उनके न रहने पर उन्हीं के

बतलाये पथ का अवलम्बन किया। वह पथ क्या था? दिल्ली जाते समय पिता ने पुत्र को पन्थ की गद्दी सौंपते हुए कहा—बेटा, अब तुम्हें अकाल पुरुष की सेवा करनी होगी। सनातन धर्म और गुरु का आदेश मानना होगा। उसका प्रचार करना होगा। बलवान दुष्ट का दमन करने के लिए बल बढ़ाना होगा। निर्बल धर्मभीरु की रक्षा का प्रबन्ध करना होगा। गोविन्द के जीवन का यही लक्ष्य हुआ।

इन गुरु गोविन्द के जन्म के समय गुरु तेगबहादुर आमेर (जयपुर) के राजा रामसिंह के साथ आसाम गये थे। इनकी माता उस समय पटना में थीं। संवत् १७२२ की पौष शुक्ला सप्तमी को आधी रात में इनका जन्म हुआ। आसाम से लौट कर तेगबहादुर अपने स्त्री-पुत्र आदि को ले कर फिर अपने निवासस्थान आनन्दपुर को लौट आये। यहीं गोविन्द की शिक्षा हुई। पिता ने इनको हिन्दी, संस्कृत और फारसी भाषाओं के पढ़ाने का प्रबन्ध कर दिया। साथ ही बाण चलाने, घोड़े पर चढ़ने और युद्ध की विद्या सिखाने की भी व्यवस्था की। परन्तु पुत्र की इस शिक्षा को पूरा करने के पहले ही उन्होंने संवत् १७३१ में धर्म के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये। तब गुरु गोविन्द यमुना और सतलज के बीच शिवालक की तराई में चले गये। वहाँ वे अध्ययन, शस्त्र-संचालन और भजन करते हुए आगे का कार्यक्रम बनाने लगे। उन्होंने पुराण, रामायण, महाभारत आदि का अध्ययन किया। इनके वीरों के चरित्र उनको [illegible] लगे। इनने उनको बल दिया और हिन्दू धर्म की रक्षा करने

की दृढ़ता। वे व्रजभाषा में कविता भी करने लगे। राम, कृष्ण, देवी आदि के चरित उनकी कविता के विषय हुए।

अपने अनुयायियों और समग्र जाति को जगाने तथा सशक्त बनाने के लिए इसी प्रकार की कविता से काम सधता था। यही गुरु गोविन्द ने किया। उनके दरबार में बावन कवि रहते थे। वे भी गुरु के आदेश से ऐसी कविता करते थे जो वीरता का भाव भरने में सहायक हो। इसी बीच उन्होंने अस्त्र-शस्त्र चलाने, अश्वारोहण आदि का भी अभ्यास किया। वे धर्म का उपदेश भी दिया करते। उनका सिक्ख समुदाय के ऊपर पूरा प्रभाव जम गया। इस प्रकार अब उनकी योजना के पूर्ण होने का समय आ पहुँचा। दुर्गम हिमालय में रहते हुए बीस वर्ष हो रहे थे। उन्होंने बड़ी धूमधाम से चण्डी-यज्ञ किया। इसके अनन्तर अपने अनुयायी और भक्तों की सभा की। उसमें दूर-दूर के बहुत से भक्त और प्रेमी आये। गुरु उस सभा में पधारे और बोले—मा दुर्गा आज बलिदान माँग रही है। है कोई गुरु का प्यारा जो अपनी भेंट चढ़ाने को तैयार हो? सभा में सन्नाटा छा गया। लोग एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। कुछ ही समय में स्तब्धता भङ्ग हुई। लाहौर का निवासी दयाराम उठा। कहने लगा—गुरु, सेवक का सिर आगे है। ले कर मा की इच्छा पूरी कीजिये। सभा-स्थान के पास ही ऊँचा टीला था। उसपर कनात का घेरा पड़ा था। गुरु उसी के भीतर दयाराम को ले गये। वहाँ पहले से कई बकरे बँधे थे। एक को तलवार के घाट उतार दिया। उसके रक्त से सनी तलवार चमकाते हुए चट बाहर निकले। सभा ने देखा कनात से रक्त की

धार बह रही है। किसी के काटो तो लोहू नहीं। गुरु ने आते ही फिर कहा—अभी माँ का मन नहीं भरा। है कोई और माई का लाल? फिर सन्नाटा। थोड़े ही काल पीछे दिल्ली का निवासी धरमराम आगे बढ़ा। गुरु उसे भी कनात के भीतर ले गये। सारी सभा की आँखें उधर ही लग गयीं। गुरु ने दूसरे बकरे की गरदन पर तलवार चलायी। लोहू की धार बाहर निकली। लोगों ने समझा धरम की भी बलि हो गयी। गुरु बाहर निकल कर सभा में वैसे ही गम्भीर दिखायी पड़े। उन्होंने उसी प्रकार तीन बार और भेंट माँगी और पायी। अन्तिम बार लोगों ने बलि का रक्त न देखा। उस समय कनात हटा दी गयी। वे 'पाँच प्यारे' मुसकराते हुए दिखलायी पड़े। लोगों को रोमाञ्च हो आया। उनके हर्ष-नाद से आकाश गूँज उठा। बड़ी देर तक गुरु का जयकार होता रहा। अब लोगों के मन से काल का भय जाता रहा। गुरु बोले—जो बोले सो निहाल, सत श्री अकाल। उपस्थित जन-समूह ने भी दोहराया—जो बोले सो निहाल, सत श्री अकाल।

उसी समय गुरु ने एक पात्र में पानी मँगवाया। उसमें अपना कृपाण डुबा दिया। वही 'अमृत' सिक्खों को दिलाया। सब उन्हें 'खालसो' कहा। सिक्खों की जमात को 'खालसा' नाम दिया। मृत्यु से निडर, शान्त, धर्मनिष्ठ सिक्खों ने एक गुरु का नाता स्वीकार किया। गुरु ने कहा—आज से सिक्ख गुरु का परस्तोह न लेंगे। खालसा की रक्षा के लिए योद्धा और घुड़सवारों की आवश्यकता है। इसके लिए यही कृपाण के द्वारा अब 'अमृत' पान होगा। इसके पीने का अधिकार से सिक्ख

पन्थ का अवलम्ब मिल जायगा। उन्होंने सिक्ख के लिए 'पाँच ककार' का सेवन आवश्यक बतलाया। तब से सिक्ख की पहचान हीं इन पाँच वस्तुओं से होने लगी। इनमें प्रत्येक के नाम का पहला अक्षर 'क' है। ये हैं—केश, कङ्घा, कृपाण, कच्छ और कड़ा। तभी से सिक्ख सिर के केश नहीं कटवाते। उनकी स्वच्छता के लिए उन्हीं लम्बे-लम्बे केशों में सदा कङ्घा खोंसे रहते हैं। उनकी कमर पर कृपाण लटकती रहती है। योद्धा को प्रत्येक क्षण चुस्त और स्फूर्तिमय रहना चाहिये। इसी से सिक्ख सदा कच्छा पहने रहते हैं—उसे कभी नहीं उतारते। वे दाहिने हाथ में लोहे का कड़ा भी पहनते हैं। यह तो हुआ सिक्ख का बाहिरी वेश। भीतरी दृढता आचरण की शुद्धता से आती है। उसके लिए गुरु ने आदेश दिया—सभी अकाली सिक्खों की जाति एक है। उनमें न कोई भेद-भाव रहे और न कोई छोटा-बड़ा समझा जाय। कोई परायी स्त्री की ओर बुरे विचार से न देखे। अकाली किसी कब्र, समाधि वा मूर्ति की पूजा न करे। नित्य प्रातः नहा कर जपजी का पाठ करे। ईश्वर का ध्यान करे। हलाल किये पशु का मांस न खाये। झटका करके ही मारे गये पशु का मांस काम में लाये। रण-क्षेत्र में कभी पीठ न दिखाये। यही अकाली सिक्ख के धर्म का नया रूप हुआ। गुरु ने उसकी कायरता भगा दी। उसे सिंह बना दिया। उन्होंने आज्ञा दी कि अपने नाम के साथ सिंह का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार सिंह का निरन्तर संयोग करके गोविन्दसिंह ने सचमुच चिड़ियों को बाज नोचने के लिए तैयार किया। गुरु गोविन्दसिंह ने प्रेरणा दी कि प्रत्येक अकाली

परिवार गुरु के काम के लिए सैनिक जुटाने में योग दें। कीर्ति, कुल, धर्म, कर्म सबको मिटा कर गुरु की सेवा के लिए प्रस्तुत हो जाय।' देखते-देखते गुरु की सेना में अस्सी सहस्र अकाली वीर हुङ्कार कर उठे। उस समय हिमालय के क्षेत्र में बहुत से क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। गुरु ने अकाली सेना बनाने के बहुत पहले ही उन लोगों को सङ्गठित करके औरंगजेब का सामना करना चाहा था। परन्तु उनका जातीय प्रेम मिट चुका था। इससे वे मिले तो, परन्तु गुरु गोविन्द के ऊपर ही चढ़ाई करने के लिए। गुरु के दो सहस्र मँजे वीरों के सामने उनकी दस हजार की सेना न ठहर सकी। तब उन्होंने उनसे सन्धि कर ली। वे ऊपर से तो मित्र बन गये। किन्तु भीतर ही भीतर गुरु से जलते रहे। अब खालसा का नया सङ्गठन देख कर वे घबरा उठे। परन्तु करते क्या। गोविन्दसिंह की शक्ति के सामने सिर न उठा सकते। उनका कहना भी न टाल सकते। उन्होंने उनके कहने से मुगल-सम्राट् को कर देना बन्द कर दिया। औरंगज़ेब उन दिनों दक्षिण में मराठों से उलझ रहा था। इधर उत्तरी राजाओं के विद्रोह का समाचार सुनते ही वह तिलमिला उठा। उसकी सेना ने हिमालय के आंगन को रणचण्डी का क्रीडाक्षेत्र बना दिया। सब राजा मिल कर उसके सामने आये, परन्तु टिक न सके। तब उन्होंने गुरु गोविन्दसिंह से सहायता माँगी। अकाली सेना ले कर स्वयं गुरु गोविन्दसिंह रणभूमि में आ पहुँचे। सिक्खों की तलवार के हाथ देख कर मुगल-सेना के छक्के छूट गये। उसके पैर उखड़ गये। विजय का सेहरा गुरु के माथे पर बँधा।

मुगलों की इस हार का समाचार लाहौर पहुँचा। वहाँ के सूबेदार दिलावरखाँ ने इसका बदला लेने की ठानी। उसने आनन्दपुर पर धावा बोल दिया। सिक्ख वीर भी मानो उसकी बाट जोह रहे थे। उन्होंने आगे बढ़ कर दिलावर की सेना से लोहा लिया। 'वाह गुरु जी की फतह,' 'वाह गुरु जी का खालसा' का रणनाद सुन कर आक्रमणकारी काँप उठे। सिक्ख उनको अपने अचूक बाणों का लक्ष्य बनाने लगे। थोड़ी देर में ही आहतों के ढेर लग गये। मुगल सेना के पाँव उखड़ गये। इन भगोड़ों ने लाहौर में पराजय का समाचार पहुँचाया। वहाँ से झट दूसरी सेना आनन्दपुर आ धमकी। विजयी सिक्खों ने उसकी भी वही गति की। इस प्रकार शाही सेना के बारबार हारने का समाचार औरंगजेब ने सुना। उसने गोविन्दसिंह का दमन करने के लिए शाहजादा शाहआलम को चुना। उसने बड़ी भारी सेना ले कर आनन्दपुर को घेर लिया। इधर बहुत दिनों से गुरु गोविन्दसिंह को लगातार युद्ध में लगा रहना पड़ा। इससे वे अपनी सेना का सङ्गठन न कर सके। इस आक्रमण के समय उनकी सेना बहुत कम रह गयी थी। अतएव उन्होंने रणनीति बदल दी। अब गढ़ के भीतर रह कर युद्ध करने लगे। जब रात में मुगल-सेना सो जाती तब सिक्ख वीर बाहर निकलते। छापा मार कर असावधान शत्रुओं का अन्त कर देते। इसी समय शाहजादा ने पहाड़ी राजाओं को फोड़ लिया। उनके मन में गुरु के प्रति पहले से ही वैर था। उन्होंने गढ़ के भीतर से लड़ते गुरु के ऊपर बीस सहस्र सेना ले कर आक्रमण कर दिया।

गुरु के बन्दों ने उनके भी दाँत खट्टे कर दिये। तब शाहजादा ने सरहिन्द के सूबेदार की सेना मँगवायी। गुरु के ऊपर उसके प्रहार होने लगे। बाहर से कोई सहायता न मिलती। भीतर की सामग्री नित्य कम होती जाती। फिर भी वीर सिक्ख साहस न छोड़ते। वे अवसर की ताक में रहते। सुभीता पाते ही गढ़ से बाहर निकलते। असावधान शत्रु-सैनिकों को गाजर-मूली के समान काट कर चट भीतर घुस जाते।

इस प्रकार लड़ते रहना कब तक सम्भव था। बहुतों का साहस भी धीरे-धीरे छूटने लगा था। उन्होंने गुरु से प्रस्ताव किया कि यहाँ से निकल कर प्राण बचाने चाहिये। गुरु ने कहा कि जिन्हें अपने प्राणों का मोह हो वे जा सकते हैं। परन्तु जाने के पहले गुरु-शिष्य का नाता तोड़ देना होगा। जो इसके लिए तैयार हो वह लिख दे मैं सिक्ख नहीं हूँ और बाहर चला जाय। प्राणों के मोह के पीछे मनुष्य क्या नहीं करता। केवल पैंतालीस वीरों को इस कठिन स्थिति में भी इस मोह ने नहीं घेरा। शेष सब ने गुरु की शिष्यता त्याग देने में भलाई मानी। इधर गुरु अपने इन चुने हुए साथियों को ले कर कुछ दिन और आनन्दपुर के गढ़ में रहे। शत्रुओं ने ऐसा कड़ा प्रबन्ध किया कि बाहर से चींटी भी गढ़ के भीतर न जा पाती। खाने-पीने की वस्तुएँ समाप्त हो गयीं। सागपात चना-चबेना भी न रहा। कई दिन घोड़ों का मांस खा कर उन देश और धर्म के रक्षकों ने अपने प्राण बचाये। अब प्राणों की रक्षा का कोई भी सहारा न रह गया। एक दिन गुरु अपने उन जीवन-मरण के साथियों और बाल-बच्चों को

ले कर आधी रात के सन्नाटे में वाहर निकल पड़े। मुगल-सैनिक जैसे उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे उस छोटी-सी मरजीयों की टोली पर टूट पड़े। अकाली भी उनसे भिड़ गये। वे थे मुट्ठी भर, और उधर थे असंख्य शत्रु। कब तक उनके सामने ठहरते। बहुत से मारे गये, कुछ इधर-उधर निकल भागे। गुरु की माता अपने पौत्र जोरावरसिंह और फतह-सिंह के साथ दल से बिछुड़ गयी। गुरु के साथ उनके दो पुत्र बचे। उन्हें बचाते हुए वे चमकौर के किले में पहुँच गये। उस समय उनके साथ इने-गिने वीर ही बच रहे थे।

उधर जोरावरसिंह और फतहसिंह को लिये हुए उनकी माता ने गङ्गाराम के यहाँ शरण ली। उसने उन्हें बड़े प्रेम से रखा। परन्तु उनके पास धन देख उसका मन डोल गया। उसने उसे हड़प लिया। इतना ही नहीं! अपना दोष छिपाने के लिए उसने उन लोगों का पता किसी मुगल को वतला दिया। उसने उनको पकड़ कर सरहिंद के सूबेदार के पास पहुँचा दिया। उसने उन दोनों सिंहो को अपने दरबार में बुलवाया। गुरु-माता ने समझा अब कुशल नहीं। चलते समय उन्होंने बच्चों को समझाया—बेटा घबराना नहीं। सिर देना पर धर्म न देना। उन्होंने ऐसा ही किया। सूबेदार ने बड़े बड़े लोभ दिखलाये, किन्तु उन्होंने अपना धर्म छोड़ना स्वीकार न किया। तब कुपित होकर सूबेदार ने उन्हें मरवा डाला। वे अन्त समय तक सत श्री अकाल और ॐ का उच्चारण करते रहे। यह असहनीय समाचार गुरु-माता को मिला। वह किले के गरगज

(बुर्ज) से कूद पड़ीं। तीनों साथ ही अमर-लोक पहुँचे।

चमकौर में गुरु गोविन्दसिंह पहुँचे ही थे कि मुगल-सेना ने उसे भी घेर लिया। उस समय तक जो थोड़े से वीर वहाँ एकत्र हो सके थे उन्होंने डट कर उससे लोहा लिया। अठारह वर्ष के अजीतसिंह और चौदह वर्ष के जुझारसिंह ये दो गुरु-पुत्र भी खेत रहे। गुरु ने दूसरे दिन स्वयं ही युद्ध का सञ्चालन करने का विचार किया। उनके साथियों ने समझाया कि ऐसा न कीजिये। कहीं आप को कुछ हो गया तो आपका उठाया हुआ काम यों ही रह जायगा। बात काम की थी। गुरु दूरदर्शी थे। उन्होंने वहाँ से चले जाने की योजना बनायी। वे विश्वस्त साथियों के ले कर सुनसान रात में बाहर निकल पड़े। फिर भेस बदल कर मालवा पहुँच गये। वहीं उन्होंने एक दिन अपनी माता और अपने दो पुत्रों के बलिदान की रोमाञ्चकारी घटना सुनी। परन्तु वे विचलित न हुए। अपनी शक्ति बढ़ाने में लग गये। इसी बीच औरंगजेब ने गुरु के पास पत्र भेज कर उन्हें दिल्ली बुलाना चाहा। वे उसके छल को ताड़ गये और उसके चङ्गुल में न फँसे। अब वे गुरुओं की वाणी का संग्रह करने लगे। जो उन्हें कण्ठस्थ था उसका सङ्कलन करके ग्रन्थ साहब का निर्माण किया। उसमें गुरु नानक से लेकर गुरु गोविन्दसिंह तक सभी गुरुओं के रचे हुए भजन-पद हैं और कबीर, रैदास, रामानन्द आदि भक्तों के बनाये भी कुछ भजन हैं। फिर वे लोगों को धर्म का उपदेश देते हुए राजस्थान की ओर गये। संवत् १७६४ में पुष्कर पहुँचे। वहीं उनको औरंगजेब की मृत्यु का समाचार मिला।

गद्दी के लिए उसके बेटों में लड़ाई छिड़ गयी। बहादुरशाह ने गुरु गोविन्दसिंह से सहायता माँगी। अपने दो सहस्र सैनिक ले कर गुरु ने उसका साथ दिया। वह भाइयों के सङ्घर्ष में विजयी हुआ। उसने गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। बीस लाख अशर्फियाँ भेंट कीं। फिर दक्षिण विजय के लिए हैदराबाद जाते समय उसने गुरु को अपने साथ लिया। गुरु के मन में धर्म और जाति की रक्षा का भाव प्रबल था ही। उन्होंने दिल्ली की राजशक्ति से लाभ उठाने का अवसर हाथ से न जाने दिया। परन्तु बीच में ही मुगलों और सिक्खों में झगड़ा हो गया। गुरु ने बहादुरशाह का साथ छोड़ दिया। खानदेश की राह पकड़ी। नादेड़ पहुँच कर वहाँ गोदावरी के किनारे ठहर गये।

नादेड़ में उनसे माधवदास वैरागी मिला। उस वीर का चरित्र और धर्म-प्रेम देख कर गुरु ने उसे सिक्ख बनाया। वह अपने को उनका बन्दा (सेवक) कहने में धन्य समझने लगा। गुरु ने उसको ही पञ्जाब मे अपने छोड़े हुए काम को पूरा करने का भार सौंपा। उसने पञ्जाब से शाही अधिकार को हटा दिया। उस पर फिर सिक्खों का झण्डा फहराने लगा। वही इतिहास मे बन्दा वैरागी के नाम से अमर हुआ। इधर गुरु धर्मोपदेश करते हुए दिन बिताते और पञ्जाब के समाचार सुनने को कान खोले रहते। उस समय उनकी सेवा में दो पठान रहते थे। उनका बाप किसी युद्ध में गुरु के हाथों मारा गया था। अनाथ समझ गुरु ने उन्हें पाला-पोसा और बड़ा किया। वे भीतर ही भीतर उनसे बदला लेने की ताक मे रहते। किसी दिन रात में

उन्होंने सोते समय गुरु को छुरा भोंक दिया। चोट गहरी थी। फिर भी गुरु ने तुरन्त सँभल कर आक्रमणकारी का काम तमाम कर दिया। इस घाव से वे अच्छे न हो पाये थे कि बहादुरशाह ने उनके पास दो पुराने धनुष भेजे। पास के लोग कह उठे—भला आज दिन इनको कौन चला सकता है। रुग्ण गुरु को ताव आ गया। उन्होंने चट धनुष पर रोदा चढ़ा उससे बाण चला कर दिखा दिया। धनुष तो चढ़ गया। पर कच्चे घाव के टाँके टूट गये। रक्त बह चला। गुरु ने समझा अब मेरी अन्तिम घड़ी आ पहुँची है। उन्होंने तुरन्त वीर बाना धारण किया। पाँचो हथियारों से लैस हो पीठ में ढाल लटकायी। गुरु ग्रन्थ साहब का पाठ होने लगा। गुरु सतश्री अकाल और ॐ का उच्चारण करते हुए अमरलोक के यात्री हुए। यह घटना १७६५ में घटी।

संसार छोड़ने के पहले उन्होंने गुरु की प्रथा ही बन्द कर दी थी। इसीसे उनके बाद गुरु का स्थान पन्थ में श्री गुरु ग्रन्थ साहब को मिला। तब से खालसा पंचायत का निर्णय गुरमत हुआ और 'ग्रन्थ' ही पन्थ का एकमात्र पथ-प्रदर्शक। इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने शान्तिप्रिय जन समूह को अपने धर्म की रक्षा के लिए समर्थ बनाया। उन्हीं के पुरुषार्थ से पंजाब में विधर्मी शासन की नींव हिली और सिक्खों की युद्धप्रिय जाति का उदय हुआ। आगे चल कर देश की राजनीति में सिक्ख वीरों ने बड़े-बड़े काम किये। उन सबको मूल प्रेरणा गुरु गोविन्दसिंह से ही मिली। इसीसे आज भी उनका यश देश में व्याप्त है।

अमरसिंह थापा

मध्य युग में हमारे देश के ऊपर पच्छिम से मुसलमान आये थे। उनका साम्राज्य-विस्तार हुआ, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाले राजपूत वीरों के प्रयत्न किसी भी समय बन्द न हुए। पन्द्रहवीं शताब्दी में राणा कुम्भा के द्वारा राजपूत-शक्ति का उदय हुआ। मुगल-सूर्य के प्रखर प्रकाश के सामने भी साँगा और प्रताप की दिव्य ज्योति मन्द न पड़ी। भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास में उनका नाम अमर है। मुसलमान राजशक्ति के सामने इन राजपूत वीरों का जो महत्त्व है वही अँगरेजी शक्ति से लोहा लेनेवाले वीर अमरसिंह थापा का है। इस देश में अँगरेजो की कूटनीति को बहुत पहले ही कुछ लोगों की पैनी दृष्टि ने भाँप लिया था, उस समय उन्हें यह भी चेतना हुई थी कि अँगरेजों को निकाल बाहर किया जाय। इसका प्रयत्न करने वालों में अमरसिंह थापा भी थे। ये नेपाल में गोरखा राज्य के संस्थापक पृथ्वीनारायण के उमराव भीमसेन थापा के पुत्र थे। सन् १७४८ मे अमरसिंह का जन्म हुआ। भीमसेन सचमुच भीमसेन थे। इस नरव्याघ्र ने पृथ्वी-नारायण के साथ अनेक युद्धों का सञ्चालन किया। काठ-मांडू की विजय के अभियान में उन्होंने वीरगति पायी। पृथ्वी-नारायण ने भीम के न रहने पर अमरसिंह का पालन-पोषण किया। उनकी शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध किया। वे युद्ध-

कौशल के साथ राजनीति में भी प्रवीण हुए। इसलिए उन्होंने नेपाल-राज्य के विस्तार में योग दिया ही, अँगरेजों की चाल समझने और उसको काटने का भी ध्यान रखा।

पृथ्वीनारायण के बाद उनका पुत्र सिंहप्रताप सन् १७७५ में गद्दी पर बैठा। वह कोई पौने तीन वर्ष राज्य करने के अनन्तर स्वर्ग सिधारा। उस समय उसका बेटा रणबहादुर ढाई बरस का था। उसके नाम पर उसकी माँ राजेन्द्रलक्ष्मी ने और उसके बाद उसके चाचा बहादुर ने नौ वर्ष तक राज्य सँभाला। उनके समय में नेपाल के दक्षिण, पश्चिम और पूर्व के बहुत से राज्य जीते गये। अमरसिंह थापा इन युद्धों में प्रमुख थे। उनकी वीरता के कारण ही पच्छिम में गंडक, पूरब में कोसी (कौशिकी) और दक्षिण में खोला नदी का प्रस्रवण-क्षेत्र नेपाल राज्य में आ गया था। सन् १७८६ अमरसिंह थापा की सेना पश्चिम की ओर आगे बढ़ी। उसने काली नदी को पार किया। फिर घाघरा के प्रस्रवण क्षेत्र के अनेक छोटे-छोटे राजाओं को परास्त किया। अल्मोड़े पर अधिकार किया। अलखनन्दा तक गढ़वाल को भी जीत लिया। इस प्रकार निरन्तर विजय करते-करते गोरखा शासकों का मन बढ़ गया। सन् १७९१ में उन्होंने तिब्बत के ऊपर भी चढ़ाई कर दी। अमरसिंह थापा की सेना ने केरुङ्ग घाटी के मार्ग से तिब्बत में प्रवेश किया और ब्रह्मपुत्र तक पहुँच कर साँस ली। इसका बदला दूसरे साल ही चीन ने लिया। इस युद्ध में नेपाल की बुरी तरह हार हुई। उसे चीन से सन्धि करनी पड़ी। इन्हीं दिनों ने नेपाल ने भारत के अँगरेज शासकों को

व्यापार की सुविधाएँ दे कर सन्धि करनी चाही। इसी सूत्र से कर्नल कर्कपैट्रिक नेपाल गया। उसने नेपाल और चीन में सन्धि कराने में भी हाथ बटाना चाहा था। किन्तु जब वह नेपाल पहुँचा तब युद्ध समाप्त हो चुका था। अँगरेजों से व्यापार संबंधी सन्धि न हो सकी। फिर भी इसी बहाने उनके पैर तो पहले पहल नेपाल की भूमि पर पड़ ही गये। उनकी आँखें नेपाल पर लग गयीं। वे उसके भीतरी मामलों में पड़ कर अपना लाभ उठाने के अवसर की ताक में लग गये। बहादुर के मन में स्वयं ही राजा बन जाने की उत्कण्ठा जगी। वह अँगरेजों से मेलजोल बढ़ाने लगा। अँगरेज तो इस प्रकार का अवसर खोज ही रहे थे। उन्होंने छिपे-छिपे बहादुर के षड्यन्त्र में सहायता पहुँचायी। यह देख नेपाल के प्रमुख लोग बहादुर के विरुद्ध हो गये। वे जानते थे कि इस प्रकार के काम से नेपाल अँगरेजों के हाथ में चला जायगा। पृथ्वीनारायण पहले ही निश्चित कर चुके थे कि अँगरेजों को किसी बहाने नेपाल में पैर रखने देना ठीक नहीं। रणबहादुर ने अपने चाचा को बन्दी कर लिया। अब वह सन् १७९५ से स्वयं ही राज्य-कार्य सभालने लगा।

इस समय रणबहादुर इक्कीस वर्ष का था। वह बड़ा रँगीला था। उसने कई विवाह किये। उसने किसी प्रकार दो बरस तक राज्य सँभाला। फिर सन् १७९७ में अपने दो वर्ष के पुत्र गीर्वाणयुद्धविक्रम का राजतिलक कर दिया। उसकी देखरेख के लिए अपनी सब से बड़ी रानी राजराजेश्वरी को नियुक्त किया। राज्य छोड़ कर संन्यास ले लिया। फिर भी गीर्वाण की माँ

कान्तवती को न छोड़ सका। वह भी संन्यासिनी बन कर उसके साथ चली गयी। सन् १७९९ में उसकी मृत्यु हो गयी। तब संन्यासी रणबहादुर का मन उचट गया। वह राज्य के कामों में टाँग अड़ाने लगा। उस समय दामोदर पाण्डे प्रधान मन्त्री था। उसने रणबहादुर को पकड़ कर बन्दी करने का विचार किया। इधर रानी राजराजेश्वरी रणबहादुर से जा मिली थी। दामोदर पाण्डे ने छोटी रानी सुवर्णप्रभा को राज्य की देखरेख का कार्य सौंपा। रणबहादुर साल भर तक दाँव पेंच करता रहा। उसके आचरण और व्यवहार से प्रजा सन्तुष्ट न थी। इससे उसकी सभी चालें असफल हुईं। राजगद्दी को फिर से पाना तो दूर रहा, उसे बन्दीगृह में पहुँच जाने का डर सताने लगा। वह सन् १८०१ में बनारस भाग गया। यह देख दामोदर पाण्डे ने अँगरेजों से लिखापढ़ी की। उस समय लार्ड वेल्जली गवर्नर जनरल था। दामोदर ने कहा कि रणबहादुर को बनारस में नजरबन्द कर लिया जाय। इसके बदले में उसने अँगरेजों को व्यापार करने के अधिकार देना स्वीकार किया। अँगरेज तो चाहते ही थे कि किसी प्रकार नेपाल हमारे चंगुल में आये। रणबहादुर अँगरेजी नियन्त्रण में रख लिया गया। सन् १८०२ में पहला अँगरेज राजदूत कप्तान नौक्स काठमांडू पहुँचा।

परन्तु नेपाल के लोग अँगरेजों से सतर्क थे। वे इस मैत्री को फूटी आँख भी नहीं देखना चाहते थे। अतएव उन्होंने दामोदर पाण्डे की एक न चलने दी। इस विरोध के कारण सन्धि पत्र के ऊपर हस्ताक्षर न हो सके। इन विरोधी

नेपालियों में अमरसिंह थापा मुख्य थे । दामोदर अँगरेजों से सन्धि तो न कर सका, किन्तु अमरसिंह उसकी आँखों में गड़ने लगा। वह न होता तो सन्धि में बाधा न पड़ती। दामोदर ने अमरसिंह को कैद कर लिया । नौक्स ने सोचा कि दामोदर और उसके साथियों को फोड़ने का यह अवसर हाथ से जाने न देना चाहिये। उसने उनको घूस देने का प्रलोभन दिया । परन्तु वे स्वार्थ के लिए देश का अहित करने वाले न थे। नौक्स अपना सा मुँह ले कर रह गया। उधर रणबहादुर बन्दी हो जाने पर अपनी रानी राजराजेश्वरी से दुर्व्यवहार करने लगा । इससे वह उसका साथ छोड़ नेपाल चली गयी । दामोदर ने देखा कि यह विपत्ति फिर आयी। अब नेपाल दरबार ने अँगरेजों से सन्धि कर ली। दामोदर ने रानी को पकड़ने के लिए सेना भेजी। वह सेना रानी से मिल गयी। उसकी सहायता से राजराजेश्वरी राजधानी में आ पहुँची। उसने राज्य-अधिकार फिर अपने हाथ में ले लिया। दामोदर को प्रधान मन्त्री रहने दिया, किन्तु अमर-सिंह थापा को तुरन्त बन्दीगृह से मुक्त किया और मन्त्रिपद प्रदान किया । राजराजेश्वरी अँगरेजों की चाल समझती थी । वह उनको नेपाल में रहने देना उचित नहीं समझती थी । इससे उसने कुछ दिन पूर्व की गयी सन्धि के अनुसार काम न होने दिया। अँगरेज राजदूत की एक न चली । उसने ऊब कर सन् १८०३ में काठमांडू छोड़ दिया। सन् १८०४ में वेल्जली ने सन्धि-विच्छेद कर दिया।

इससे रणबहादुर को छुटकारा मिल गया । उसने भीतर ही

भीतर अँगरेजों के विरोधी नेपालियों को अपनी ओर पहले ही मिला लिया था। अब तो वह नेपाल जा पहुँचा। जो सेना उसे दबाने के लिए भेजी गयी वह उसी से जा मिली। दामोदर पाण्डे पकड़ा गया। भीमसेन थापा प्रधान मन्त्री नियत किया गया और अमरसिंह थापा का पुत्र रणध्वज उसका सहायक। इसी समय रणबहादुर ने अमरसिंह थापा को गढ़वाल की विजय को पूरा करने के लिए भेजा। उन्होंने अल्मोड़ा होते हुए उत्तर तिब्बत की ओर से गढ़वाल में प्रवेश किया। श्रीनगर को देखते-देखते जीत लिया। १८०४ में देहरादून में गढ़वाल के राजा को हराया। इस प्रकार जमना और टोंस तक नेपाल का राज्य पहुँचा दिया। शासन का उचित प्रबन्ध किया। फिर जमना के उस पार की ओर आँख उठायी। वहाँ छोटे छोटे बारह राज्य थे। अमरसिंह ने धीरे-धीरे उनको जीत कर नेपाल का सूर्य चन्द्र अंकित झण्डा सतलज के किनारे गाड़ दिया। सतलज के उस पार काँगड़ा के प्रतापी राजा संसारचन्द का आतङ्क छाया था। सन् १८०५ में अमरसिंह ने सतलज पार की। संसारचन्द काँगड़ा गढ़ के भीतर जा छिपा। अमरसिंह ने ज्वालामुखी पर डेरा डाला। चारों ओर का देश जीत लिया।

उधर पंजाब में रणजीतसिंह का उदय हो चुका था। वह सिक्खों के छोटे-छोटे राज्यों पर अधिकार जमाना चाहता था। इन्हीं दिनों अँगरेज भी आज के उत्तर प्रदेश पर अपना अधिकार और प्रभुत्व जमाते हुए पंजाब की ओर आँख लगाए हुए थे। सन् १८०९ में अमृतसर में रणजीतसिंह को अँगरेजों से सन्धि

करनी पड़ी। उसने मान लिया कि सतलज के पूरब न बढ़ूँगा। इसी समय के लगभग संसारचन्द ने रणजीतसिंह से सहायता माँगी। अब रणजीत और अमर की ठन गयी। इसी बीच महामारी के कारण थापा के बहुत से सैनिक न रहे। काठमांडू से भी उन्हें सहायता न मिली। इससे विवश हो उन्हें पीछे हटना पड़ा। अब वे सतलज और जमना के बीच के प्रदेश की शासन-व्यवस्था करने लगे। नेपाल से सीधा सम्बन्ध बनाये रखने के लिए कुमाऊँ तक सड़क बनवायी। उसपर महत्वपूर्ण स्थानों पर गढ़ियाँ और चौकियाँ बनवायीं। वहाँ रक्षक सेना रखी। इस प्रकार योद्धा अमरसिंह ने राजनीतिज्ञ की सी कुशलता दिखलायी और अपने राज्य की चौकसी करने की क्षमता प्रकट की।

इधर नेपाल का राज्य बढ़ रहा था और उधर अँगरेजों से ठन रही थी। अमरसिंह ने देखा कि इस समय युद्ध करने की स्थिति नहीं। इसलिए उन्होंने नेपाल राज्य को सन्धि करने का परामर्श दिया। सन्धि की बातचीत चली। अँगरेजों ने थापा को अपनी ओर मिलाने के लिए जागीर का लोभ दिखाया। परन्तु वह डिगने वाले न थे। फिर क्या था। रणभेरी बज उठी। अँगरेजो ने पाँच ओर से नेपाल पर आक्रमण किया। लुधियाने से औक्टरलोनी सतलज के तट से होता हुआ आगे बढ़ा। मेरठ से दूसरी सेना देहरादून को जीतती हुई गढ़वाल में घुसी। तीसरी सेना बनारस गोरखपुर से पालपा और गोरखा नामक स्थानो की ओर चली। चौथी सेना ने पटना मुर्शिदाबाद से चल कर काठमांडू को अपना लक्ष्य बनाया। और पाँचवीं सेना

पुर्णियाँ के पास नेपाल की सीमा पर डट गयी। इस प्रकार सभी ओर युद्ध के बादल मँडराने लगे। नेपालियों ने डट कर मोर्चा लिया। देहरादून के पास नालापानी की लड़ाई में तो उनकी स्त्रियों ने भी बड़ी वीरता दिखायी। पालपा की ओर बढ़ने वाली सेना तराई तक ही पहुँच सकी। पटने वाली सेना की भी दुर्गति हुई। हाँ, पूर्वी सीमा की शत्रु सेना नेपाल में घुस आयी। मेरठ वाली सेना जैथक में अमरसिंह के पुत्र रणजोर के हाथों बुरी तरह काटी गई। और पश्चिमी सीमा पर अमरसिंह ने ऑक्टरलोनी का सामना किया। उसको डर था कि सतलज के किनारे-किनारे बढ़ कर शत्रु उत्तर पहुँच कर पीछे से आक्रमण कर सकता है। इससे उसने सतलज के किनारे की रक्षा का प्रबन्ध किया। उसके पास अँगरेजों से आधी सेना भी न थी। फिर भी वह बड़ी चतुराई से डटा रहा। अँगरेजों की छोटी तोपें नेपालियों के पहाड़ी अड्डे तोड़ न सकीं। उनकी बड़ी तोपें ऊँचे पहाड़ पर पहुँच न सकतीं। ऑक्टरलोनी ने पहाड़ी राजा को फोड़ लिया। किसी प्रकार चोटी पर तोप पहुँच गयी और उसके ९ पौंड के गोले अमरसिंह की गढ़ी पर दगने लगे। अमरसिंह ने सन्धि की बातचीत चलायी। अँगरेजों ने प्रस्ताव किया कि आत्मसमर्पण कर देने पर अमरसिंह को जमना से सतलज तक का पहाड़ी राज्य दे दिया जायगा। परन्तु अमरसिंह देशद्रोही न थे। वे सब प्रलोभनों को ठुकराते गये। उन्होंने ने उत्तर दिया कि यदि गवर्नर-जनरल की इच्छा झगड़ा मिटाने की हो तो मैं एक विश्वस्त पुरुष को भेजूँ। किन्तु यदि उनकी राय पहाड़ में युद्ध

करने की ही हो तो भगवान की जो इच्छा होगी वैसा ही किया जायगा। इस समय नेपाल के लोगों में मतभेद हो गया था। अँगरेजों से समझौता करने के सम्बन्ध में अमरसिंह थापा और काठमांडू के लोगों के विचार मिलते न थे। थापा को फोड़ने के लिए अँगरेजों ने सतलज की ऊपरली दून में रामपुर-बुशहर का राज्य देने का फिर प्रस्ताव किया। पर उन्होंने उसे ठुकरा दिया। उधर लड़ाइयों में बराबर उनकी हार होती रही। उनकी प्रत्येक हार पर उन्हें प्रलोभन दिया जाता रहा। तब नेपाल दरबार ने अमरसिंह को लिखा कि देहरादून से सतलज तक का प्रदेश अँगरेजों को दे कर उनसे सन्धि कर लेनी चाहिए। अमरसिंह भोले भाले सैनिक ही न थे, वे राजनीति के भी जानकार थे। उन्होंने नेपाल दरबार को समझाया कि—यह समय सन्धि की चर्चा के लिए ठीक नहीं। यदि शत्रु ने "हम लोगों की शर्त मान ली तो भी वह हमारे साथ वैसा ही बर्ताव करेगा जैसा टीपू सुलतान के साथ। वह फिर कोई बहाना ढूँढ निकालेगा और हमारे अन्य इलाके भी छीन लेगा। जैथक में हमने शत्रु को जीता है। यदि मैं ऑक्टरलोनी पर विजय पा सका तो रणजीतसिंह शत्रु के विरुद्ध शस्त्र उठायेंगे। जमना तट पर हम फिर दून (देहरादून) लौटा लेगें। आशा है कि हमारे हरद्वार पहुँचने पर लखनऊ के नवाब हमसे आ मिलेंगे। दो वर्षों तक तराई का इलाका शत्रु के हाथ रह जाय तो रहने दीजिए। सिक्ख हमसे नहीं मिले तो भी पहाड़ में डरने का कोई कारण नहीं है। जब तक हमारी जीत न हो तब तक सन्धि

की चर्चा नहीं करनी चाहिए। रणजीतसिंह को अपनी ओर मिला लेने के लिए मुझे दो तीन लड़ाइयाँ जीतनी पड़ेंगी। सिक्खों और गोरखों के जमना की ओर बढ़ने पर दक्खिन के राजा भी हमारे दल में आ मिलेंगे ऐसी मुझे आशा है। यदि हमारी जीत हुई तो हम मतभेद के अन्य सब प्रश्नों का निपटारा कर सकेंगे। यदि हार हुई तो अपमानजनक शर्तें मानने की अपेक्षा प्राण त्याग करना अच्छा होगा"।

इस प्रकार अमरसिंह थापा ने उस समय की स्थिति में नेपाल की शक्ति को छिन्न-भिन्न होने से बचाने की चेष्टा की। उन्होंने चीन से सहायता माँगने का भी सुझाव दिया, परन्तु उनका वह पत्र अँगरेजों के हाथ लग गया। अमरसिंह ने रणजीतसिंह को भी मिलाने का प्रयत्न किया। उनकी प्रेरणा से नेपाल दरबार ने रणजीतसिंह को लिखा कि—"अँगरेजों के साथ मित्रता के धोखे में न पड़िये। हमारे साथ भी उनकी मित्रता थी। लखनऊ के नवाब, मराठे और रुहेले आपके आने का समाचार पाते ही हम लोगों से आ मिलेंगे। ज्यों ही हम सब मिल जायेंगे त्यों ही हिन्दुस्तान को जीत लेना और शत्रु को निकाल भगाना अत्यन्त आसान हो जायगा।" परन्तु रणजीतसिंह ने अमरसिंह के अनुरोधों के अनुसार कभी काम न किया, उलटे उनकी सूचना अँगरेजों को देने में अपना हित समझा। अमरसिंह को अँगरेजों के सामने बराबर असफलता मिली। अन्त में मई १८१५ में सतलज से काली तक प्रदेश छोड़ना पड़ा। उस समय उनके पास केवल २५० सैनिक बच रहे थे। मलौनगढ़ छोड़ने के लिए अमर-

सिंह के साथ किये गये ठहराव के अनुसार अँगरेज़ी सेना ने नेपाली सैनिकों को अपना अपना सामान ले कर काली पार जाने दिया। उस समय यह देख कर शत्रु दंग रह गये कि अमरसिंह का अपना सामान कितना थोड़ा है। दिसंबर १८१५ में वे नेपाल पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा कि अँगरेज नेपाल की तराई का कुछ प्रदेश दो लाख रुपये वार्षिक दे कर लेना चाहते हैं। यह नेपाल की भूमि में घुसने की युक्ति थी। अमरसिंह ने इसे ताड़ लिया। उन्होंने लोगों को इसके विरुद्ध उभाड़ा। फिर युद्ध ठन गया। इस बार भी अन्त में अँगरेज़ों की जीत हुई। सन् १८१६ में नेपाल को उनसे सन्धि करनी पड़ी। परन्तु उस सन्धि में वह शर्त न रही जिस पर अमरसिंह को आपत्ति थी। इसके कुछ दिनों बाद ही अमरसिंह की मृत्यु हो गयी।

अमरसिंह सच्चे देशभक्त थे। वे जानते थे कि इस देश के लिए अँगरेज़ों का प्रभुत्व कितना भयावह होगा। इसीलिए उन्होंने उस समय के राजाओं को मिला कर अँगरेज़ों के बढ़ते हुए अधिकारों रोकने की चेष्टा की, परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण वे लोग उनकी बातें न समझ सके। उनका आदर्श नेपाल का राज्य-विस्तार तो था ही, अँगरेज़ों की रोकथाम भी उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। इसके बिना देश की स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती थी—यह इस सैनिक ने भली भाँति समझ लिया था। यदि उनके इस आदर्श को उस समय के प्रभावशाली राजा अपना लेते तो अँगरेज सत्ता की पतङ्ग तभी कट गयी होती और स्वराज्य की स्थापना कोई सवा सौ वर्ष पहले ही हो गयी होती।

विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु

"न, न बेटा, इसे मत छुओ, यह सो रहा है।" यह साधारण सी बात एक बंगाली महिला ने अपने छोटे से पुत्र से कही थी। ऐसी बात प्रायः प्रत्येक हिन्दू परिवार में बुढ़ियाँ कहती, और बच्चे सुनते हैं, किन्तु कितने बच्चों पर ऐसी बातों का कुछ प्रभाव पड़ता है ? परन्तु बालक जगदीशचन्द्र वसु ऐसे-वैसे साधारण बच्चे न थे। अपनी माँ से ऊपर लिखी बात उन्होंने छुटपन में सुनी थी। तभी से वे सोचने लगे कि क्या सचमुच पौधों के भी प्राण होते हैं। क्या वे भी मनुष्य के समान सोया करते हैं।

आजकल ढाका पूर्वी पाकिस्तान में है। पहले वह अखण्ड-भारत में था। उस जिले में विक्रमपुर के पास राढ़ीखाल गाँव है। वहीं ३० नवम्बर १८५८ को ये जगदीशचन्द्र उत्पन्न हुए। इनके पिता डिप्टी-कलक्टर थे। वे बड़े ही उदार और दृढ थे। इनकी माता बड़ी धर्मनिष्ठ थीं और सरल थीं। माता-पिता के आचरण और स्वभाव का प्रभाव बालक पर पड़ा। वह उन दोनों का प्रतिरूप हुआ। लड़कपन में बालक जगदीश गाँव के आस पास घूमता और वहाँ की वस्तुओं को देखा करता। रात में पिता से नाना प्रकार की जिज्ञासा करता। जब तक पूर्णतया सन्तुष्ट न हो जाता तब तक शान्त न होता। उच्च अधिकारी होते हुए भी बाबू भगवानचन्द्र ने अपने पुत्र को गाँव के बच्चों की पाठशाला में ही पढ़ने को भेजा। वहाँ वे किसानों और

मछुओं के बच्चों के साथ पढ़ते। उनसे जंगलों के हिंस्र पशुओं और नदियों के गहरे पानी के कीचड़ में रहने वाले भयङ्कर जीवों की कहानियाँ सुनते। यहीं से उनके मन में प्रकृति से प्रेम का संस्कार जमने लगा। मातृभाषा और ग्रामीण लोगों से भी प्रेम हुआ। उनके पिता ने उद्योग-धन्धों के सिखाने के स्कूल भी खोले थे। इनके द्वारा वे वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर प्रवृत्त हुए।

गाँव में रहते हुए जगदीश चन्द्र को अध्यवसाय, धैय, सहनशीलता और आत्म-निर्भरता का अभ्यास हुआ। आगे के जीवन में जब उनको निराशा और दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ा तब लड़कपन की ये प्रवृत्तियाँ उनके काम आयीं। नव वर्ष की वय में बालक जगदीश कलकत्ता भेजे गये। उन्होंने १६ वर्ष की वय में सेंट जेवियर स्कूल से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर ४ वर्ष बाद उसी कालेज से बी० ए० हुए। वहीं पर उनके ऊपर वैज्ञानिक पादरी लाफो का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनकी प्रेरणा से उनकी रुचि भौतिक विज्ञान की ओर बढ़ी।

अब जगदीश चन्द्र के मन में आई० सी० एस० में आ कर उच्च पदाधिकारी बनने की अभिलाषा हुई। उसके लिए उन दिनों इंगलैंड जा कर परीक्षा देनी पड़ती थी। उनके पिता को इंगलैंड भेजने में आनाकानी न थी किन्तु उन दिनों उनके पास धन की कमी थी। ऐसे समय उनकी माता काम आयीं। उनके पास जो कुछ था वह तो दिया ही, अपने गहने भी दे डाले। इस प्रकार से निश्चिन्त होकर जगदीश बाबू इंगलैंड जाने के लिए जहाज पर चढ़े। उनके पिता उनकी प्रवृत्तियों और उनकी योग्यता को जानते

थे। वे समझते थे कि विज्ञान के क्षेत्र में मेरा पुत्र नाम उजागर करेगा। इसलिए उन्होंने सरकारी पद और प्रतिष्ठा का लोभ न करके उन्हें विज्ञान पढ़ने के लिए प्रेरित किया। अतएव इंगलैंड पहुँच कर जगदीशचन्द्र ने चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन करना आरम्भ किया। किन्तु चीड़फाड़ के कमरे की दुर्गन्ध से उनका मन घबरा गया। कुछ स्वास्थ्य भी विगड़ गया। इसलिए चिकित्सा विज्ञान छोड़ कर उन्होंने विशुद्ध विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने का निश्चय किया। सन् १८८४ में केम्ब्रिज विश्व विद्यालय से रसायन और वनस्पति विज्ञान में बी० ए० की परीक्षा में सफलता पायी। इस परीक्षा में ऊँचा स्थान पाने के कारण उनको छात्रवृत्ति मिली। उसके द्वारा वे लन्दन विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान का विशेष अध्ययन करने के लिए गये। अगले वर्ष ही वहाँ से बी० एस० सी० की उपाधि प्राप्त की। इस अध्ययन काल में वे इङ्गलैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आये और उनके अनुसन्धान करने के ढंग का निरीक्षण भी करते रहे। उनके मन में भी वैज्ञानिक आविष्कार करने की उत्कट इच्छा हुई।

इस प्रकार उच्च ज्ञान और कुछ काम करने का दृढ निश्चय ले कर जगदीशचन्द्र वसु सन् १८८५ में स्वदेश लौटे। आते ही कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कालेज में भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हो गये। उन दिनों भारतीयों को अंगरेजों का दो तिहाई वेतन मिलता था; और अस्थायी नियुक्ति के कारण जगदीश बाबू के लिए उसका भी आधा वेतन निश्चित किया गया। वे यह अपमान सह न सके। उन्होंने वेतन लेना ही अस्वीकार कर

दिया। अध्यापन के कार्य में दत्तचित्त हो कर काम किया और अपनी योग्यता की धाक जमा दी। इसी वीच वे वैज्ञानिक अनुसन्धान भी करते रहे। उस समय कालेज में न तो प्रयोगशाला थी और न अनुसन्धान के लिए कोई अनुदान ही मिलता था। फिर भी वैज्ञानिक की तीव्र उत्कण्ठा लगन और त्याग प्रवृत्ति के कारण नवयुवक प्रोफेसर ने अपनी छोटी सी प्रयोगशाला वना ली। उसमें आवश्यक यंत्र भी स्वयं वनाये। इन दिनों वे कलकत्ते मे रह नहीं सकते थे, अतएव नदी के उस पार कुछ दूर चन्द्रनगर में कम भाड़े का मकान लिया। वहाँ से स्वयं छोटी सी नाव खे कर कलकत्ते आते और उनकी पत्नी उसको खे कर लौटा ले जातीं। इन कठिनाई के दिनों में नव-विवाहिता पत्नी की दृढता जगदीश वावू के वड़े काम आयी। तीन वर्ष तक इस प्रकार का कठिन परिश्रम त्याग और कर्तव्य-पालन करते हुए अन्त में सत्याग्रही जगदीशचन्द्र की विजय हुई। उनको अँगरेज प्रोफेसरों के समान प्रतिष्टा प्राप्त हुई, पिछला वेतन भी मिल गया। शासक-वर्ग की पूर्ण समकक्षता प्राप्त करने का यह पहला भारतीय प्रयास स्मरणीय है।

आरम्भ में प्रोफेसर वसु की प्रवृत्ति फोटोग्राफी और संगीत तथा वोलचाल के रेकार्ड वनाने की ओर हुई। फिर वे विद्युत् चुम्बकीय तरङ्गों के सम्वन्ध में अनुसन्धान करने लगे। अपनी नवीन जानकारी का ज्ञान विज्ञान-जगत् को देने के लिए उन्होंने सन् १८९५ में लेख लिखना प्रारम्भ किया। ये लेख इंगलैंड की प्रसिद्ध रायल सोसाइटी के पत्र में भी छपे। इससे देश और

विदेश में उनकी धूम मच गयी। रायल सोसाइटी ने उन्हे अन्वेषण कार्य के लिए सहायता प्रदान की। इससे प्रभावित होकर बंगाल सरकार ने भी उनको अन्वेषण करने की सुविधाएँ प्रदान कीं। अब वे अन्वेषण सम्बन्धी कार्यों मे और भी दत्तचित्त हुए। उनके अन्वेषण के परिणाम से उक्त सोसाइटी के अधिकारी वैज्ञानिक बहुत प्रभावित हुए। उन्हीं के फलस्वरूप सन् १८९६ मे लन्दन विश्वविद्यालय ने आपको डी० एस-सी० की उपाधि दे कर सम्मानित किया। आगे चल कर तो कलकत्ता और प्रयाग विश्वविद्यालयों ने भी इसी उपाधि के द्वारा अपनी गुणग्राहकता प्रकट की।

जिस समय डा० वसु विद्युत् तरंगों के सम्बन्ध में अनुसन्धान कर रहे थे उन्हीं दिनों उनके अतिरिक्त कुछ और वैज्ञानिक भी विद्युत चुम्बकीय तरङ्गों के सम्बन्ध मे कार्य कर रहे थे। उन्होंने सन् १८९४ में इन तरङ्गो की सहायता से बिजली के तारों के बिना ही सन्देश भेजने में सफलता पायी। अपने साथी अध्यापक प्रफुल्लचन्द्र राय के मकान के बन्द कमरे मे बिजली की तरङ्ग उठायी। उसी से अध्यापक पेडलर के घर मे रखे भरे पिस्तौल को चला दिया। इसका दूसरा प्रदर्शन उन्होंने १८९५ में कलकत्ता के टाउनहाल मे किया। इसके लिए उस समय के गवर्नर की अध्यक्षता मे सभा की। सबके सामने बिजली ले जाने वाले तारों के बिना ही ईथर मे विद्युत् तरङ्गें प्रवाहित कीं। उनके द्वारा दूसरे कमरे में रखी बिजली की घंटी बजवायी, बन्द कमरे मे विस्फोट कराया और भारी बोझ उस स्थान से हटवा दिया जहाँ वह रखा था।

आगे चल कर उन्होंने इसी विद्युत शक्ति का प्रयोग तार की सहायता के विना ही समाचार भेजने के लिए किया। उन्होंने इसके लिए वड़े सूक्ष्म यन्त्र भी वनाये। वे १८९५ में अपने यन्त्र से वरावर तार के विना विजली द्वारा सन्देश भेज कर दिखाते रहे। उसी वर्ष ब्रितानवी युद्ध वेड़े के प्रधान सेनापति ने उस यन्त्र को अपने वेड़े मे लगवा कर उसका उपयोग किया। यह यन्त्र अन्य सव यन्त्रों से अच्छा है यह १८९५ मे इंगलैंड की वैज्ञानिक पत्रिका 'इलेक्ट्रीशियन' मे कहा गया। उसी वर्ष इस आविष्कार का प्रदर्शन लन्दन के वैज्ञानिको के सामने किया। परन्तु संसार में सवसे पहले 'वेतार के तार' का आविष्कार करने पर भी उनको इस महत्त्वपूर्ण आविष्कार का श्रेय न मिल सका। उन्होंने पहले इस आविष्कार का विवरण वॅगला में लिखा था। वाद में यह प्रश्न उठा कि उन्होंने यह आविष्कार पहले किया है अथवा इतालवी मार्कोनी ने। इसपर उन्होंने अपने लेख का अनुवाद विलायत जा कर सुनाया। परन्तु परतन्त्र देश के वैज्ञानिक के प्रति न्याय न किया गया। स्वतन्त्र इतालिया का वैज्ञानिक मार्कोनी वेतार के तार का आविष्कर्त्ता कहलाया और कीर्ति तथा सम्पदा दोनों का भागी हुआ। भारतीय वैज्ञानिक की अन्तर्वेदना सन् १९२१ में यों व्यक्त हुई—"मनुष्य माँ की गोद में जो भाषा सीखता है उसी भाषा में अपने सुख-दुःख प्रकट करता है। प्रायः तीस वर्ष पहले मेरे वैज्ञानिक और अन्य कई निवन्ध मातृभाषा में लिखे गये थे। उसके वाद मैंने विद्युत्-तरङ्ग और जीवन के सम्वन्ध में खोजें आरम्भ कीं। उस प्रसङ्ग में अनेक मामले उठे। इस विषय

का न्यायालय विदेश में है। वहाँ वाद प्रतिवाद केवल युरोपी भाषा में होता है। (हमारे) राष्ट्रीय जीवन का इससे बढ़ कर और क्या अपमान हो सकता है।" यदि इस अविष्कार की सूचना बँगला के स्थान पर किसी युरोपी भाषा में प्रकाशित हुई होती तो सम्भव है इसके आविष्कर्ता के रूप में डाक्टर वसु आज सर्वमान्य होते।

परन्तु डा० वसु हारने वाले न थे। विद्युत् तरङ्ग सम्बन्धी अन्वेषण करते समय उन्हे जीवन की एकता का आभास मिल गया था। उन्हे अनुभव हुआ कि दबाव पड़ने से धातुओं के परमाणु भी थक जाते हैं; और फिर उत्तेजित करने पर उनकी थकावट मिट जाती है। उन्होंने बहुत खोज की। निष्कर्ष निकाला कि धातुओं में ही नहीं, किन्तु सभी पदार्थों मे चेतना होती है। जैसे अचेतन जड़ पदार्थ थकते, चञ्चल होते, नशे से झूमते, विष से मुरझाते और मरते हैं वैसे ही पेड़ पौधे भी। वे भी मनुष्य के समान संवेदनशील होते हैं. सुखी और दुखी होते हैं। उन्हें भी सर्दी, गर्मी, और भूख-प्यास लगती है। वे भी काम करते विश्राम लेते सोते जागते और खाते पीते हैं। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन उन्होंने अकाट्य प्रमाणों के द्वारा पुस्तक के रूप में किया और प्रयोग करके भी दिखाया। संसार के विविध देशों में जा जा कर उन्होंने अपने इस सिद्धान्त की सत्यता प्रकट की। इस काम के लिए उन्होंने बड़े ही सूक्ष्म यन्त्रों का भी निर्माण किया। उनसे उद्भिद् के संवेदनशील होने का प्रत्यक्ष प्रदर्शन होता था। यह देखा जा सकता था कि पौधे कैसे बढ़ते और

मनुष्य के समान अनुभव करते हैं। इंगलैण्ड के कुछ वैज्ञानिकों ने उनके इस असाधारण आविष्कार का महत्त्व भी मिटाना चाहा। उन्होंने कहा कि यह आविष्कार तो दूसरों ने पहले ही कर लिया है परन्तु उनकी धूर्तता खुल गयी। विज्ञान-संसार ने स्वीकार किया कि डा० वसु ही जीव मात्र में चेतनता प्रमाणित करने वाले सर्वप्रथम वैज्ञानिक हैं। उन्हें विविध देशों से निमंत्रण मिले। सर्वत्र उनके व्याख्यान सुनने के लिए बड़े-बड़े वैज्ञानिक उपस्थित हुए और सबने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे जहाँ गये लोगों ने उन्हें हाथों हाथ लिया।

इस प्रकार सन् १९१५ में डाक्टर वसु विश्व के प्रमुख विज्ञानाचार्य माने जाने लगे। अपने देश मे भी उन्हें राजकीय उपाधियों और प्रतिष्ठा की प्राप्ति हुई। इसी बीच उन्होंने कालेज के कार्य से अवकाश ग्रहण किया। नियमानुसार अब वे राजकीय सेवा में नहीं रह सकते थे और पेंशन पाने के अधिकारी थे। किन्तु सरकार ने उन्हें आजीवन पूरा वेतन देने की घोषणा की और अवकाश प्राप्त आचार्य के रूप मे नियुक्त किया। यों तो अपने अनुसन्धानों के द्वारा वसु महोदय जो नाम कमा चुके थे, वह युग-युग तक बना रहता किन्तु उन्होंने अपना सर्वस्व लोक-हित के लिए अर्पित करके भारतीय आदर्श का पालन किया। सन् १९१७ में उन्होंने वसु अनुसन्धानशाला की स्थापना की। उसके लिए अपने सभी यंत्र और आविष्कार प्रदान कर दिये। पाँच लाख रुपये भी दिये। मरने के पहले भी वे इस संस्था को पन्द्रह-लाख रुपये की सम्पत्ति दान कर गये थे। इस संस्था में

वैज्ञानिक अनुसन्धान और उनके प्रकाशन की व्यवस्था की गयी। जो अनुसन्धान वहाँ होते हैं, उनपर किसी व्यक्ति अथवा संस्था का स्वत्व नहीं रहता। उनका उपयोग जो चाहे कर सकता है। इस प्रकार इस विज्ञानशाला के द्वारा प्राप्त ज्ञान से जो चाहे वह धन कमा सकता है। यही सच्चा भारतीय आदर्श है। इसी को उन्होंने उक्त विज्ञानशाला का उद्‌घाटन करते समय इस प्रकार व्यक्त किया था—अमरत्व का बीज किसी पदार्थ विशेष में नहीं है वरन् विचारो में है। यह गुण सम्पत्ति में नहीं वरन् उच्च आदर्शों मे है। सच्चा मानवीय साम्राज्य तो ज्ञान के विकास और सत्य के प्रसार से ही स्थापित हो सकता है। सांसारिक पदार्थों की लूट-खसोट से नहीं।

वसु की प्रतिष्ठा का उत्कर्ष सन् १९२८ में देखा गया है। उस साल पहली दिसम्बर को उनकी वर्ष गाँठ बड़े ठाठ से मनायी गयी। स्वदेश के ही नहीं विदेशों के विद्वानों, वैज्ञानिकों, शासनाधिकारियो आदि ने उनका अभिनन्दन किया। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् रोम्याँ रोलाँ ने उनको प्रणाम करते हुए लिखा कि तुमने पूर्व की आध्यात्मिकता और पश्चिम की भौतिकता का समन्वय किया है। जहाँ अब तक हमारे लिए केवल अन्धकार था तथा जिसको हम निर्जीव समझते थे वहाँ तुमने प्रकाश और विश्व-जीवन के स्पंदन का निर्देश किया है। यही आचार्य वसु की देन है।

ऐसे ही त्याग और तप से पवित्र जीवन के शेप मात्र आठ और वर्ष वैज्ञानिक अन्वेषण में बीते। अब उसने थकान का अनुभव किया और २३ नवम्बर १९३७ को उसकी अन्तिम ज्योति

जगमगा कर अनन्त में विलीन हो गयी। आचार्य वसु सचमुच महापुरुष थे। विरोध और पराजय से घबराना तो वे जानते ही न थे। उन्होंने प्रचुर धन कमा कर भी अपने लिए उसका उपयोग न किया। वे अपनी आय का केवल पाँचवाँ भाग निजी काम में लाते थे, शेष शिक्षा-संस्थाओं को दान कर दिया करते थे। उनकी पत्नी श्रीमती अबला वसु ने उनकी मृत्यु के अनन्तर तीन लाख इकहत्तर हजार रुपये दान दिये थे। इसके बाद भी जो सम्पत्ति बच रही, वह सब वसु विज्ञानशाला को प्रदान कर दी गयी। वे भारतीय संस्कृति के पुजारी थे। वे कहते थे कि हमें अपने अतीत की महानता का अभिमान करके चुप न बैठना चाहिए। उचित तो यह है कि हम इस समय और भविष्यत् में वैसे ही अथवा उससे भी बढ़ कर महान बनने का प्रयत्न करें। उन्होंने नवयुवकों को प्रोत्साहित करते हुए सन् १९२८ में प्रयाग विश्व-विद्यालय के पदवीदान समारोह के अवसर पर कहा था—यहाँ से बाहर जा कर ऐसा कार्य और प्रयत्न करो जिससे अपने महान अतीत के सच्चे उत्तराधिकारी सिद्ध हो सको। वसु महोदय ने भारत का सिर संसार के समक्ष ऊँचा किया। उनके आविष्कारों की समता संसार में किसी अन्य आविष्कार से नहीं की जा सकती। वे पूर्व और पश्चिम के समन्वित रूप थे। भारत का आदर्श और कल्पना पश्चिम के यथार्थ और व्यवहार में मिल कर नवयुग के प्रतिनिधि के रूप में आचार्य वसु हमारे बीच आये थे। वे अपना समस्त ज्ञान लोकहित के लिए प्रदान कर गये हैं। वे चिर युग तक अपने यश शरीर से जीवित रहेंगे।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गोरा, लम्बा, छरहरा शरीर। उसपर घुटनों के नीचे तक लम्बा रेशम का अँगरखा। रेशम की ही धोती। भव्य आकृति—लम्बी नाक, कमल की सी बड़ी-बड़ी चमकती आँखें। चौड़ा ललाट। कन्धों तक लहराते केश। घनी मूछें और भरी हुई लम्बी दाढ़ी। जैसा शुभ्र तन और परिधान वैसा ही शुभ्र केश-जाल। देखते ही श्रद्धा से मस्तक अपने आप झुक जाय—ऐसा तेज। जैसे कोई प्राचीन आर्य ऋषि हो। उसकी वाणी ने भारतीय आदर्शों और सिद्धान्तों का संदेश सुना कर विश्व को चकित कर दिया। उसके पैरों पर श्रद्धा से मानवता झुक गयी। अशान्त संसार को उसने विश्व-प्रेम और विश्व-मैत्री का संदेश सुनाया।

उसने कलकत्ता के ठाकुर परिवार को अलंकृत किया था। ६ मई सन् १८६१ में उसका जन्म हुआ था। उसके पितामह द्वारकानाथ ठाकुर बड़े ही विद्वान् और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। पिता देवेन्द्रनाथ भी परम धार्मिक श्रेष्ठ विद्वान् और विख्यात दानी थे। वे किसी को कष्ट मे पड़ा देख ही न सकते थे। उनकी माता शारदा देवी साक्षात् देवी स्वरूपा थीं। उनके पाँच बड़े भाई भी साहित्य और कला के क्षेत्र में यशस्वी हो गये हैं। सब से बड़े द्विजेन्द्रनाथ दार्शनिक और गद्य के प्रतिष्ठित लेखक थे। दूसरे ज्योतीन्द्रनाथ विख्यात कलाकार थे। तीसरे भाई इंडियन सिविल सर्विस में आने वाले सब से पहले भारतीय थे। अवनीन्द्र-

नाथ और गगनेन्द्र का नाम भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में किसने नहीं सुना ? ऐसे सम्भ्रान्त परिवार में रवीन्द्रनाथ ने अपने काव्यों और अन्य कार्यों के द्वारा सबसे अधिक यश अर्जित किया। बाल्यकाल्य में ही रवीन्द्र की माता का शरीरान्त हो गया। उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ धर्म और ईश्वर का चिन्तन करने में मग्न रहते। उनकी देख रेख नौकरों के द्वारा ही हुई। घरेलू जीवन के सुख से वंचित हो कर वे छुटपन से ही एकांतप्रिय हो गये। उस समय उनकी स्थिति का परिचय उन्हीं के द्वारा सुनिये—मैं अपने बालपन की एक ख़ास बात यही बतला सकता हूँ कि मेरा स्वभाव बहुत ही एकान्तप्रिय था। मेरे पिता की भेंट मुझसे बहुत कम होती थी। परन्तु घर में सब उनकी ऐसी धाक मानते थे कि जैसे वे प्रत्यक्ष ही हम लोगों के सामने खड़े हों ! जैसे कोई कैदी किसी कोठरी में, सिपाहियों की देखभाल मे रख दिया गया हो, इसी प्रकार मैं अपने घर में रहता था। मैं अधिकतर अपने कमरे में ही बैठा रहता था, और मेरे आसपास के घर के नौकर नौकरानियाँ ही मेरे साथी-संगी थे। हमारे कमरे के बाहर संसार में क्या हो रहा है—इसके नाना भाँति के चित्र मैं अपनी कल्पना से ही अपने मन में लाया करता, उन्हीं से अपना मनोरञ्जन किया करता था। बस यही मेरा लड़कपन का खेल कूद था। जहाँ तक मुझे स्मरण है, प्रकृति-निरीक्षण का ही मुझे बालपन में विशेष प्रेम था। जब कभी मैं आकाश में बादलों के ऊपर बादलों को दौड़ता हुआ देखता, तो मैं पागल सा हो जाता।

रवीन्द्रनाथ को जिस पाठशाला में पढ़ने के लिए बैठाया गया, उसके अध्यापक बहुत क्रूर व्यवहार करते। इससे पाठशाला और अध्यापक का नाम सुनते ही वे काँप उठते। वहाँ पढ़ने जाने से जी चुराने लगे। कोई न कोई बहाना बना कर घर में रुक जाते। इससे उनकी शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही हुई। उनका मन काव्य, संगीत, नाटक और चित्रकला में बहुत लगता। अतएव उन्हीं की शिक्षा उचित ढङ्ग से पाने पर वे शीघ्र ही व्युत्पन्न हो गये। इसी बीच कलकत्ते में सङ्क्रामक रूप से डेंगू ज्वर फैल गया। उस समय उनके परिवार के कुछ लोग पनिहट्टी गाँव चले गये। उन्होंने पहलेपहल मुक्त आकाश में साँस ली। वहाँ उनकी जीवनचर्या कुछ और ही हो गयी। उन्होंने अपनी 'जीवन स्मृति' में उसका परिचय यों दिया है—

यही मेरी पहली बाहर की सैर थी। गङ्गा की तटभूमि ने मानो किसी पूर्व जन्म के परिचय से मुझे गोद में उठा लिया। बगीचे में नौकरों के लिए अलग बरंडेदार कोठरियाँ थीं; और उनके सामने अमरूद के कई पेड़ थे। मैं उन पेड़ों की छाया तले बरंडे में बैठ जाता; और अमरूद के पेड़ों के अन्तराल से गङ्गा की धारा देखते देखते दिन बिता देता। रोज सवेरे बिस्तर से उठते ही मुझे ऐसा लगता मानो वह दिन मुझे सुनहली किनारीदार नई चिट्ठी के रूप में मिला हो। लिफाफा खोलते ही जैसे कोई अपूर्व समाचार मिलेगा। फिर यह सोच कर चटपट हाथ-मुँह धो बाहर चौकी पर जा बैठता कि तनिक भी हानि न उठानी पड़े। प्रतिदिन गङ्गा की महिमा देखा करता—ज्वार भाटे का आना-

जाना, तरह तरह की नावों की तरह तरह की गति-भङ्गिमा—अमरूद के पेड़ों की छाया का पश्चिम से पूर्व की ओर हटते रहना, गङ्गा के उस पार कोन्नगर के तट पर श्रेणीवद्ध वनान्धकार के ऊपर विदीर्णवक्ष सूर्यास्त काल के स्वर्ण शोणित का धीरे-धीरे विलीन होना। किसी किसी दिन सवेरे से ही वादल घिर आते। उस पार के पेड़ काले हो जाते। नदी पर काली छाया छा जाती। देखते-देखते जोर की वर्षा उतर आती। उससे दिगन्त धुंधला हो जाता। उस पार की तट-रेखा मानो आँखों में आँसू लिये विदा हो जाती। नदी फूल उठती। गीली हवा इस पार के पेड़ पौधों का जो जी में आता करती फिरती। इस प्रकार रवीन्द्र की प्रसुप्त कविता को अपनी सहचरी प्रकृति के साथ खेलने का अवसर मिला और वह गुनगुनाने लगी।

घर में उचित शिक्षा की व्यवस्था होने पर भी रवीन्द्रनाथ को कालेज की शिक्षा के द्वारा कोई उपाधि मिले यह सब चाहते थे, इसलिए उन्हें १८७७ में इंगलैंड भेजा गया परन्तु वे खाली हाथ लौट आये। कुछ दिनों के वाद उन्हें वैरिस्टरी पढ़ने के लिए फिर विलायत भेजा गया। इस वार भी वे योंही लौट आये। वहाँ से आ कर वे पूर्ण रूप से साहित्य-साधना में लग गये। यद्यपि वे पहले से ही रचना करने लगे थे तथापि अव उन्होंने साहित्य-निर्माण ही जीवन का लक्ष्य स्थिर किया। २२ वर्ष की वय में उनका विवाह हुआ। वे सव प्रकार से सम्पन्न तो थे ही जीवन का आनन्द लेने में उनके दिन वीतने लगे। कुछ दिनों के अनन्तर उनकी प्रसिद्ध कविता पुस्तक—'सन्ध्या सङ्गीत' प्रकाशित

हुई और फिर 'प्रभात सङ्गीत'। काव्य-रचना के अतिरिक्त उन्होंने कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचनात्मक निबन्ध आदि को भी रचना की। 'साधना' नामक मासिक पत्र भी सम्पादित किया। विवाह के कुछ दिनों पश्चात् ही रवीन्द्रनाथ को अपनी जमींदारी का प्रबन्ध करने के लिए गाँवों में जाकर रहना पड़ा। वहाँ प्रकृति का रम्य रूप फिर उनकी आँखों के सामने नित्य आने लगा। उन्हे बहुधा नाव-यात्रा करनी पड़ती। उनकी कविताओं में नदियों की मनोरमता का सुन्दर और मनोहारी चित्रण हुआ है। इसी समय उन्हें गाँव के किसानो के जीवन को बहुत पास से देखने का अवसर भी मिला। इससे गिरी हुई मानवता के प्रति उनके हृदय में उत्कट सहानुभूति उत्पन्न हुई। वह उनकी विविध कृतियों में अभिव्यक्त हुई। इस प्रकार प्रकृति और मानव दोनों का प्रेम उनके साहित्य में प्रकट हुआ।

पैंतीस वर्ष की वय में उनके जीवन की धारा दूसरी ओर मुड़ी। सन् १९०२ में उनकी पत्नी का स्वर्गवास हुआ। कुछ महीने पीछे उनकी क्षयग्रस्त पुत्री भी चल बसी। ३ वर्ष के बाद उनका कनिष्ठ पुत्र भी न रहा। उन्होंने इन पारिवारिक विपत्तियों का सामना बड़े धैर्य के साथ किया। उनका मन सांसारिकता से फिर गया। उस समय की मानसिक दशा का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—मृत्यु मेरे लिए ईश्वर का बड़ा भारी वरदान जान पड़ा। मैंने पूर्णतया समझ लिया कि परमात्मा ने मेरे ऊपर पूर्ण कृपा की। मेरा कुछ भी नष्ट न हुआ। मुझे विश्वास हो गया कि मिट्टी का एक कण भी वास्तव में नष्ट नहीं हो सकता, भले ही

वह नष्ट होता सा दिखायी पड़े। मैं परमात्मा पर सारा बोझ डाल कर बिलकुल निश्चिन्त हो गया। यही नहीं; मुझे विश्वास हो गया कि मेरा जीवन अब सार्थक हुआ। पत्नी के वियोग में उन्होंने जो वेदनामय गीत लिखे वे 'स्मरण' नाम से प्रकाशित हुए। 'मालाकार' 'दूज का चाँद' और 'गीताञ्जलि' का प्रकाशन भी इन्हीं दिनों हुआ। अब उनकी कविता में मुख्य रूप से आध्यात्मिकता के भाव और विचार व्यक्त होने लगे।

सन् १९१२ में रुग्णता के कारण रवि बाबू विलायत गये। अब तक वे अपनी मातृ भाषा बंगला में ही रचना किया करते थे, विलायत जाने पर उनके मित्रों ने अंग्रेजी में उनका रूपान्तर करने की प्रेरणा की। फलतः 'गीताञ्जलि' 'मालाकार' और 'दूज का चाँद' के अनुवाद प्रकाशित हुए। उनके द्वारा कवि की ख्याति और भी बढ़ी। सन् १९१३ में 'गीताञ्जलि' के लिए उन्हें स्वीडन का प्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार मिला। इससे वे संसार भर के श्रेष्ठतम कवियों में गिने जाने लगे। लगभग एक लाख बीस हज़ार रुपये का यह पुरस्कार भारत सन्तान को पहलेपहल मिला। भारत का सिर विश्व में ऊँचा हुआ। इससे सारे देश में अपार हर्ष छा गया। भारत सरकार ने उन्हे 'नाइटहुड' देकर सम्मानित किया। साहित्य-रचना के लिए यह सम्मान भी साधारण न था। इसके अनन्तर विश्वकवि सर रवीन्द्र नाथ ठाकुर को योरोप, अमेरिका और एशिया के सभी उन्नत देशों ने बड़े आदर से निमन्त्रित किया, उनका सत्कार और सम्मान किया। उन्होंने विश्व-प्रेम और मानव-एकता का सन्देश सुनाया। इन यात्राओं के द्वारा संसार

ने उन्हें भारत के प्राचीन अध्यात्म ज्ञान का सन्देशवाहक स्वीकार किया।

साहित्यस्रष्टा के रूप में महाकवि रवीन्द्र ने आख्यायिका, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना, यात्रा-विवरण, गीत, प्रबन्ध काव्य आदि विविध प्रकार की रचनाएँ की हैं। वे श्रेष्ठ गायक और अभिनेता भी थे। सङ्गीत कला और चित्रकला के क्षेत्रों में नवीन शैली की उद्भावना करके उन्होंने बड़ी प्रतिष्ठा पायी थी। उनकी गम्भीर एवं विचारपूर्ण वक्तृत्व कला भी अनूठी थी। इस प्रकार साहित्य और कला के क्षेत्रों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। किन्तु वे कल्पना की ऊँची उड़ान लेने वाले असाधारण कलाकार ही न थे, उन्होंने ऐसे रचनात्मक कार्य भी किये थे जिनसे आज भी उनका यश मूर्तिमान है। ग्राम-सुधार और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए उन्होंने श्रीनिकेतन की नींव डाली थी। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में भी चिरस्मरणीय कार्य किया है। आरम्भ में रवि ठाकुर ने कलकत्ता में पाटशाला स्थापित की थी। बहुत प्रयत्न करने और अपने पास का सब कुछ लगा देने पर भी वह पाठशाला तो न चल सकी किन्तु उसके सञ्चालन के अनुभव को ले कर उन्होंने सन् १९०१ में बोलपुर में शान्ति-निकेतन की स्थापना की थी। उसमें प्राचीन काल के गुरुकुल के आदर्श पर पुराने और नये ज्ञान का समन्वय किया। वहाँ देश, वर्ण और जाति का भेद हटा कर लौकिक विद्याओं के साथ ही अध्यात्म की शिक्षा दी जाती है। उसके उद्देश्य की सूचना उसके प्रवेश-द्वार पर अङ्कित इन वाक्यों से मिलती है—प्राणिमात्र की

हिंसा नहीं करनी चाहिए। किसी के धार्मिक विश्वास पर आघात नहीं करना चाहिए। केवल एक परमपिता की उपासना करनी चाहिए। ऐसे उपदेश करने चाहिए जो सृजनकर्त्ता और पालन कर्त्ता की प्रतिष्ठा, भक्ति और उसके आदेशों के अनुकूल हों तथा जिनके द्वारा सदाचार का प्रचार और संसार में भ्रातृभाव का संचार हो। इन महान उद्देश्यों की पूर्ति मे संलग्न शान्ति-निकेतन की यह विश्वभारती आज स्वतन्त्र भारत के केन्द्रीय शासन द्वारा मान्य विश्वविद्यालय है। वहाँ शिक्षा का रूप पश्चिम के ढाँचे पर बने अन्य विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा के सदृश नहीं है किन्तु भारत के पुरातन आदर्शों के अनु-सार उसका सञ्चालन होता है।

महान साहित्यकार, विश्वकवि और विश्वभारती के आचार्य गुरुदेव के प्रत्येक कार्य में राष्ट्र-प्रेम दिखलाई पड़ता है। अपनी कृतिओं के द्वारा उन्होंने देश की विस्मृत आत्मा को स्व-रूप का बोध कराया। उसको अपने प्रति अभिमान करना सिखाया और संसार के उन्नत एवं स्वतन्त्र राष्ट्रों के बीच अपने समय के परतन्त्र स्वदेश का मस्तक ऊँचा किया। यह सब करते हुए भी उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र के स्वतन्त्रता-प्राप्ति सम्बन्धी कार्यों से आँख नहीं हटाई। राष्ट्रीय आन्दोलनों की कभी उपेक्षा नहीं की। जिन दिनों अपनी पत्नी सौर सन्तति के वियोग में दुखी हो कर वे करुणा के गीत गा रहे थे उन्हीं दिनों बंग-भंग का आन्दोलन चल पड़ा था। कवि ने विषाद के गीत गाते हुए भी राष्ट्रीय गान लिखे। वे लोगों के मुँह से सर्वत्र सुनाई पड़ने लगे,

उनसे विद्यार्थी बहुत ही उत्तेजित हुए। उन्होंने गाँव-गाँव घूम कर राष्ट्रीय समितियों की स्थापना की, व्याख्यान दिये, लेख लिखे। उनके एक प्रभावशाली लेख का निष्कर्ष देखिये और सोचिये कि क्या वे किसी राजनीतिक कार्यकर्ता से एक पग भी पीछे कहे जाएँगे ?—आज यह बात मन मे समझ लेनी चाहिए कि हमारे देश की जो राष्ट्रीयता हमारे सामने प्रत्यक्ष हुई है, वह किसी राजा के अनुग्रह अथवा कोप के ऊपर आश्रित नहीं। चाहे कोई विधान स्वीकृत हो या अस्वीकृत, चाहे इंगलैंड के लोग हमारी पुनीत पुकार सुनें या न सुनें, हमारा देश सदा हमारा देश रहेगा। वह हमारी सन्तान और आश्रितो का देश रहेगा। हमारा जीवन-दाता, हमारा शक्तिदाता और हमारा हितकारी रहेगा। सन् १९१९ मे जलियाँवाला बाग हत्या-काण्ड हुआ। उस समय अत्याचार और अपमान से पीडित हो कर देश कराह उठा। कवि भी तिलमिला उठे। उन्होंने 'नाइट हुड' लौटाते हुए तत्कालीन गवर्नर-जनरल को लिखा—"हमारे पंजाबी भाइयों ने जो अपमान और कष्ट सहे है, उनके विवरण समाचार के साधनों का मुँह बन्द कर देने पर भी देश के कोने-कोने मे पहुँच गये हैं। उससे हमारे देशवासियो के मन में जो व्यापक क्षोभ उत्पन्न हुआ है उसकी उपेक्षा हमारे शासको ने की है। सम्भवतः वे मन ही मन अपनी प्रशंसा कर रहे हैं कि हमने बहुत बढ़िया सीख दी है। अब समय आ गया है कि इस अपमान के साथ सम्मानार्थ प्राप्त छत्रों में हमें अपनी लज्जा पूर्णतया प्रकाशित दिखलायी पड़े। मैं सभी विशेषता-प्रदर्शक चिह्नो को छोड़ कर अपने देशवासियों के

साथ खड़ा होना चाहता हूँ, जिन्हें तुच्छ कहला कर मनुष्य के लिए असह्य तिरस्कार सहना पड़ता है।" सरकार ने यह त्याग स्वीकार न किया किन्तु ठाकुर महोदय ने अपने नाम के पहले कभी सर का प्रयोग न होने दिया।

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर देखने में जैसे भव्य थे, वैसे महान भी थे। आध्यात्मिकता से पूर्ण उनका विशाल हृदय प्रकृति और मानव जाति से एकता का अनुभव करता था। वे कल्पना के लोक मे विचरण करने के साथ ही, कर्म और पुरुषार्थ के व्यापक क्षेत्र से कभी अलग नहीं हुए। उनके द्वारा भारत का आध्यात्मिक महत्त्व प्रकट हुआ उन्होंने सचमुच देश का नाम उजागर किया।

पंजाब केसरी लाजपतराय

नाटा दोहरा बदन। भरा हुआ गम्भीर चेहरा। बड़ी-बड़ी चिन्ताशील आँखें। भारी मूँछें। सिर पर सफेद पगड़ी। वाणी में सिंह की सी दहाड़ और विपक्षियों को उसी की सी कँपा देनेवाली असाधारण क्षमता। यह है उस नरव्याघ्र का रूप, जिसे पंजाब केसरी के नाम से जनता पुकारती थी। पंजाब के फीरोजपुर जिले में ढोडि नाम का छोटा सा गाँव है। वहीं साधारण गृहस्थ लाला राधाकृष्ण रहते थे। उन्हीं के घर लाजपतराय २८ जनवरी सन् १८६५ में उत्पन्न हुए। वे किसी ग्रामीण पाठशाला मे शिक्षक थे। लाजपतराय ने पहले इन्हीं गाँव के विद्यालयों में आरम्भिक शिक्षा पायी। फिर वे लुधियाने के मिशन स्कूल में भरती हुए। कुछ समय के अनन्तर लाला राधाकृष्ण अम्बाला मे अध्यापक हो गये। तब बालक लाजपतराय भी वहाँ चले गये। वहीं से उन्होंने सन् १८८० मे पंजाब विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा में सफलता प्राप्त की। फिर लाहौर के राजकीय महाविद्यालय से एफ० ए० परीक्षा मे सफल होने के पश्चात् उन्होंने मुख्तारी की परीक्षा उत्तीर्ण की।

अब उन्होंने हिसार में वकालत आरम्भ कर दी। जीविका के लिए वकील का कार्य करते हुए भी लाला लाजपतराय सार्वजनिक कार्यों में अधिक योग देते। दूसरों के दुख मे काम आना उनका स्वभाव था। इससे प्रेरित हो कर विद्यार्थी जीवन में ही वे

समाज-सेवा की ओर विशेष रूप से लग गये थे। जब वे लाहौर में पढ़ते थे, तब प्रसिद्ध सुधारक और जन-जागरण के अग्रदूत स्वामी दयानन्द का प्रभाव पंजाब में व्याप्त हो रहा था। युवक लाजपतराय भी उससे बच न सके। वे स्वामीजी के निकट सम्पर्क में आये। उस समय पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी और लाला हंसराज के साथ मिल कर आर्यसमाज के अन्तर्गत लोकसेवा के व्रती हुए। हिसार पहुँच कर उन्होंने वहाँ आर्यसमाज की नींव डाली। अपनी आय का समस्त अवशेष समाज को दे दिया। ऐसा करते समय उन्हें इस बात की चिन्ता न थी कि भविष्य में घर का काम कैसे चलेगा। हिसार में उन्होंने संस्कृत पाठशाला भी खोली।

परन्तु लालाजी के शरीर और मन में असीम उमंग थी। हिसार में उसकी पूर्ति न हो सकती थी। इसलिए वे लाहौर चले गये। वहाँ लोकसेवा के कार्यों के लिए बड़ा व्यापक क्षेत्र था और उनके बाल्यकाल्य के साथी पं० गुरुदत्त तथा लाला हंसराज पहले से ही विद्यमान थे। इन तीनों मित्रों ने मिल कर लाहौर में आर्य समाज के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए अपना तन, मन, धन अर्पित कर दिया। सारे प्रान्त में घूम घूम कर जनता को आर्यसमाज का संदेश सुनाया और लाहौर में दयानन्द महा विद्यालय (दयानन्द ऐंग्लोवैदिक कालेज) की स्थापना का उद्देश्य बतलाया। इस महान कार्य के लिए लोगों ने जी खोल कर दान दिया। देखते देखते महाविद्यालय स्थापित हो गया। लाला हंसराज उसके आचार्य हुए। उन्होंने जीवन पर्यन्त नाम मात्र का, केवल निर्वाह भर को वेतन स्वीकार किया। लाला लाजपतराय महा

विद्यालय की व्यवस्था-समिति के मन्त्री बने और छः वर्ष तक उसका काम सँभालते रहे। इन्हीं दिनों वे जालन्धर के ऐंग्लो संस्कृत कालेज के भी मंत्री रहे। इस समय तक उनके पास पचास हजार रुपये संचित हो गये थे। उसे भी आपने कालेज को भेंट कर दिया।

सन् १८९६ में उत्तर भारत में भीषण अकाल पड़ा। अन्न की कमी से सहस्रों मनुष्य मरने लगे। गाँव के गाँव उजड़ गये। हजारों अनाथ बच्चे रोटी के लिए द्वार द्वार फिरने लगे। सन् १८९९ में इस अकाल ने बंगाल, मध्य-प्रान्त और राजपूताना को भी लपेट लिया। वहाँ भी लोगों की बड़ी दुर्दशा हुई। उस समय की विदेशी सरकार ने लोगों के आँसू पोंछने का प्रयास किया पर उससे क्या होता। देश के नेताओं से यह न देखा गया। लालाजी सेवा के मैदान में कूद पड़े। उनके पीछे पीछे कार्यकर्त्ताओं की भीड़ चली। जिससे जो बन पड़ा उसने वह दिया। अन्न और वस्त्र का अभाव दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न हुआ। इन अकालों के कारण जनता को केवल खाने कपड़े की ही कमी न थी। उसके सामने विषम सामाजिक परिस्थिति भी उत्पन्न हो गयी थी। इसाई पादरी अनाथ बालकों और बालिकाओं को भरण-पोषण के बहाने लेकर अपने धर्म से उन्हें विचलित करने की कुटिल चाल चल रहे थे। इससे हिन्दू जाति का भयंकर ह्रास हो रहा था। लालाजी ने इन लोगों को अन्न वस्त्र पहुँचा कर ही विश्राम न लिया। उनके रहने और भावी जीवन में आत्मनिर्भर बनाने के लिए उचित

प्रबन्ध किया। आर्यसमाजों के द्वारा कई स्थानों में अनाथालय स्थापित किये। उनमें ये अनाथ बच्चे रखे गये। उनके पालन-पोषण और शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हुआ। इतना ही नहीं; लालाजी ने आन्दोलन करके सरकार से यह नियम बनवा दिया कि विधर्मी के हाथ में निराश्रित बालक बालिका को न सौंपा जाय। इसके फलस्वरूप हिन्दू जाति का बड़ा कल्याण हुआ।

इस अकाल का घाव भर न पाया था कि के काँगड़ा जिले में भयंकर भूकम्प हुआ। उससे असंख्य नर-नारी उजड़ गये। उनके बसाने और बचाने के लिए लालाजी दौड़ पड़े। उन्होंने स्वयं दुर्घटना के स्थान पर पहुँच कर अगणित भूकम्प से पीड़ित लोगों की सहायता की—दबे हुए लोगों को निकाला, घायलों की चिकित्सा कराई और नंगे, भूखे तथा असहाय लोगों की देखरेख की व्यवस्था की। सन् १९०७-८ में उड़ीसा और मध्य प्रान्त में फिर अकाल पड़ गया। लाला जी ने धन जन से वहाँ की जनता की सेवा की। अकाल-ग्रस्त क्षेत्रों में काम करते समय लालाजी का ध्यान हिन्दू समाज की व्यवस्था में भयावह दोषों की ओर भी गया। उन्होंने देखा कि उच्च वर्ग के लोग निम्न-श्रेणी के लोगों के साथ सद्व्यवहार नहीं करते। इससे समाज का बहुत बड़ा अंश दुखी और पिछड़ा हुआ है। आर्यसमाज ने इस विषमता का दुष्परिणाम देखा था। न जाने कितने दलित वर्ग के लोग अपना धर्म छोड़ कर इसाई और मुसलमान बन रहे थे। इस विषम स्थिति से हिन्दू जाति को बचाने के लिए आर्य-समाज ने सबसे पहले प्रयत्न किया। लालाजी इस काम में भी

आगे आये। सब से पहले उन्हीं ने चालीस सहस्र की सहायता दी। इससे लोगों को प्रेरणा मिली और उन्होंने अछूतोद्धार के लिए मुक्त हस्त से दान दिया। इस धन से स्थान-स्थान पर अछूतों के लिए विद्यालय खोले गये। उनमें पढ़ने वाले बच्चों को आर्थिक सहायता दी गयी और अछूतों के प्रति सद्व्यवहार ही नहीं, समानता का व्यवहार करने के लिए आन्दोलन किया गया।

समाज सेवा के ये विविध कार्य करते हुए लालाजी देश की राजनीतिक दशा से उदासीन न थे। सन् १८८५ कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। लालाजी सन् १८८८ से उसमें सम्मिलित हुए। उस समय वे २३ वर्ष के थे। इस अल्पवय मे उन्होंने पहलेपहल कांग्रेस मञ्च से भाषण दिया। आगे चलकर कांग्रेस के अधिवेशनों मे उनके भाषणों को सुनने के लिए जनता उत्सुक रहा करती थी। सन् १८९३ में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ। लाला जी की प्रेरणा और तत्परता से यह अधिवेशन सफल हुआ। अब वे सरकार की आँखों मे खटकने लगे। सन् १९०७ मे उन्हें पकड़ कर मंडले (वर्मा) के कारागार मे भेज दिया गया। उनपर राजद्रोह का कोई स्पष्ट आरोप न था। केवल अधिकारियों का प्रकोप इस निर्वासन का कारण था। जब इनके विरुद्ध आन्दोलन हुआ तब वे छः महीने बाद ११ नवम्बर को छोड़ दिये गये और छिपे-छिपे लाहौर पहुंचा दिये गये। अब तक लालाजी पंजाब के नेता थे। इस जेल-यात्रा से वे सारे देश के प्रतिष्ठित नेता माने जाने लगे। उन्होंने वकालत करना छोड़ दिया। कारण, उन्हें अँगरेजी अदालतों से न्याय पाने की आशा न रह गयी। अब

देशसेवा ही उनके जीवन का एकमात्र काम हो गया। उन दिनों कांग्रेस में दो दल हो गये थे। कुछ नेता अँगरेजों से अनुनय विनय के द्वारा स्वराज्य पाने की आशा करते थे। किन्तु कुछ लोगों को इस कार्य-प्रणाली में विश्वास न था। वे इसका खोखलापन देख चुके थे। इसलिए वे खुलकर विद्रोह करना चाहते थे। इससे उन्हें गरम दल का माना जाता था। लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय इस दल के अगुआ थे। बहुत दिनों तक इन दोनों दलों में संघर्ष चलता रहा। सन् १९१६ में इनमें समझौता हो गया और कांग्रेस ने औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना अपना लक्ष्य बनाया। इन दिनों योरोप में युद्ध चल रहा था। सन् १९१४ में कांग्रेस की ओर से कुछ नेता इंग्लैंड गये थे। प्रवासी भारतीयों के प्रति विदेशों में जो दुर्व्यवहार हो रहा था, उसके निराकरण के लिए तथा भारतीय विधान में प्रस्तावित सुधारों के अनुकूल वहाँ का जनमत तैयार करने के लिए वे गये थे। इस प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्य तो लौट आये, किन्तु लालाजी जापान हो कर लौटने को थे; इसी बीच उक्त महायुद्ध छिड़ गया। भारत सरकार को भय था कि लालाजी स्वदेश में रहेंगे तो अँगरेजी शासन के विरुद्ध जो आग सुलग रही है वह भड़क उठेगी। इसलिए लालाजी युद्ध काल में भारत न आ सके। वे भी चुप बैठने वाले जीव न थे। नवम्बर सन् १९१४ में वे जापान से अमेरिका चले गये। वहाँ रह कर ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध और भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में प्रचार किया। अँगरेज वहाँ के लोगों को भुलावा दे रहे थे कि भारत में राजनीतिक

चेतना नहीं है। भारतवासी अभी तक जंगली और असभ्य हैं। वे अपने देश का शासन स्वयं नहीं कर सकते। इसलिए वहाँ का शिक्षित समाज ब्रिटिश राज्य को चाहता है। इसी प्रकार और भी बहुत सी झूठी बातें अँगरेजों ने वहाँ फैला रखी थीं। लालाजी ने इनके दूर करने के लिए कुछ उठा न रखा। अमेरिका के प्रमुख राजनीतिज्ञों से भेंट की। उनको वस्तुस्थिति समझायी। सारे देश में घूम घूम कर भाषण दिये। राष्ट्रीय विचारों को स्पष्ट करने के लिए लेख लिखे और प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की। उनकी तरुण भारत नामक पुस्तक में भारतीय राष्ट्रवादी विचार ऐसे अच्छे ढङ्ग से प्रकट किये गये कि उनके सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियाँ निर्मूल हो गयीं। उन्होंने स्थायी रूप से काम करने के लिए अमेरिका में इंडियन होम रूल लीग नाम की एक संस्था भी स्थापित की। उन्हीं दिनों ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से मिस मेयो नाम की अमेरिकन लेखिका ने 'मदर इण्डिया' (भारत माता) नाम की पुस्तक लिखी। इसमें भारत के विरुद्ध बड़ा ही दूषित प्रचार किया गया था। लालाजी ने इसका भी मुँहतोड़ उत्तर 'फादर इण्डिया' (पिता भारत) लिख कर दिया। जैसे उनके भाषण का लोहा सभी मानते थे वैसे ही उनकी लेखनी के सामने विपक्षी की कोई भी युक्ति टिक नहीं सकती थी। लालाजी ने अमेरिका में 'यंग इंडिया' नाम का मासिक पत्र भी निकाला था। और अपनी 'भारत का इंग्लैंड पर ऋण', भारत के लिए आत्म-निर्णय' आदि पुस्तकों का अंग्रेजी में ही नहीं फ्रांसीसी, इटाली, स्पेनी, जर्मनी, रूसी आदि भाषा में भी प्रचार किया।

उनके इन कार्यों का व्योरा इंग्लैंड और भारत में आता रहा।

युद्ध समाप्त होने पर लालाजी किसी प्रकार स्वदेश लौट आये। युद्ध में महात्मा गांधी और अन्य नेताओं ने जी खोल कर धन जन से अँगरेजों की सहायता की थी। उन दिनों अँगरेजों ने भी स्वराज्य देने के सम्बन्ध में वड़े वड़े वादे किये थे। परन्तु लड़ाई मे जर्मनी पर विजय पाते ही उनके सभी वादे विदा हो गये। इसी समय भारत के राष्ट्रीय क्षेत्र मे उग्र विचार वालों का दमन करने के लिए 'राउलट ऐक्ट' नाम से कानून वनाया। उसके विरोध में सारा देश उठ खड़ा हुआ। गाँव-गाँव में सभायें हुईं। अमृतसर के जलियाँवाला वाग में भी ऐसी ही सभा हो रही थी। उसमें एकत्र हज़ारो निहत्थी स्त्रियों, पुरुषों, वच्चो और वूढ़ों को गोलियों से भून दिया गया। वहाँ से भागने वाले लोगों को घेर घेर कर संगीनों का शिकार वनाया गया! वचे हुए लोगों पर अमानुषिक अत्याचार हुए। उन्हे पेट के वल चलना पड़ा। जलियाँवाला कांड देश भर में गूँज उठा। अँगरेजों के प्रति विद्रोह की लहर देश के कोने-कोने में फैल गयी। ऐसी ही विषम परिस्थिति में लाला जी स्वदेश लौटे थे। कांग्रेस ने सन् १९२० में उनको ही अध्यक्ष चुना। दिसम्बर में कांग्रेस का महान क्रान्तिकारी अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। उसमें अँगरेजों से असहयोग करने का निश्चय हुआ। लालाजी ने असहयोग का संदेश सुनाने का व्रत लिया। उनके व्याख्यानों का वड़ा प्रभाव पड़ता। सरकार ने उन्हें कारा-गार में ठूँस दिया। उनका स्वास्थ्य विगड़ गया। वे १६ अगस्त सन् १९२३ को विना शर्त के छोड़ दिये गये। उन्होंने सोलन जा

कर स्वास्थ्य सुधारा और स्वस्थ होने पर पहले के समान ही कार्य करना आरम्भ कर दिया गया।

लालाजी ने देखा कि असहयोग के कारण बहुत से विद्यार्थी सरकारी और अर्ध सरकारी विद्यालयों में पढ़ना छोड़ चुके हैं। उनकी पढ़ाई की कोई व्यवस्था पंजाब में तब तक न हो सकी थी। अब लालाजी ने वहाँ तिलक राजनीति विद्यालय की स्थापना की। उसके लिए अपना विशाल भवन और चालीस सहस्र रुपये प्रदान किये। इस विद्यालय के साथ ही लोकसेवक संघ की भी स्थापना की। उसमें सारा जीवन केवल देश-सेवा में लगाने वाले राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को भरती करने का नियम बनाया गया। इसी बीच आपने उर्दू में दैनिक 'वन्दे मातरम्' और अंग्रेजी मे साप्ताहिक 'पीपुल्स' नाम के राष्ट्रीय पत्र निकाले। इस प्रकार विविध साधनों के द्वारा उन्होंने स्वराज्य की प्राप्ति की योजना प्रचलित की। देश में सर्वत्र राष्ट्रीय संघटन चल रहे थे। महात्मा गांधी उसका संचालन करते थे। अंगरेज कूटनीतिज्ञों ने लोगों में फूट डालने की चेष्टा की। उनकी प्रेरणा से सम्प्रदायवादी मुसलमान जनता को भड़काने और पथभ्रष्ट करने लगे। जिस समय बारडोली में लगानबन्दी का आन्दोलन आरम्भ होने को था उसी समय गोरखपुर जिले के चौरीचौरा थाने में जनता ने पुलिस वालों को जला दिया। इससे गांधीजी ने अकस्मात् सत्याग्रह बन्द कर दिया। सारे देश में धरपकड़ आरम्भ हो गयी। राष्ट्रीय आन्दोलन से लोगों का ध्यान हटाने के लिए मुसलमानों को उभाड़ा गया। उन्होंने कोई न कोई बहाना ले कर

जहाँ तहाँ दंगा करना आरम्भ किया। कुछ मुसलमानों ने 'तब-लीग' शुरू कर दी। इस संघटन के द्वारा भोले भाले लोगों को चहका कर मुसलमान बनाया जाता। इससे हिन्दुओं को क्षोभ हुआ। इस वैमनस्य के बढ़ने से बड़ा भीषण परिणाम होता यह देख स्वामी श्रद्धानन्द, पंडित मदनमोहन मालवीय और दूसरे राष्ट्रीय विचार वाले हिन्दू नेताओं के साथ लालाजी ने भी हिन्दू संघटन का काम आरम्भ कर दिया। उन्हें विश्वास था कि हिन्दुओं के छिन्न भिन्न होने से राष्ट्रीय आन्दोलन भी नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।

उधर महात्मा गांधी के पकड़े जाने पर कुछ राष्ट्रीय नेताओं ने विधान-परिषदों में जा कर भीतर से स्वराज्य की लड़ाई लड़ने का निश्चय किया। पंडित मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चित्त-रञ्जनदास ने 'स्वराज्य दल' बनाया। लालाजी भी उसमें सम्मि-लित हुए। प्रान्तीय एवं केन्द्रीय विधान-परिषदों में इस दल के प्रतिनिधि पहुँचे। उन्होंने राष्ट्रीय विचारों के अनुसार विधान सभाओं में कार्य करना आरम्भ किया। लालाजी की सिंह-गर्जना से अँगरेज़ अधिकारियों के दिल दहल जाते। कुछ दिनों के बाद पंडित मोतीलाल नेहरू और लालाजी में मतभेद हो गया। वे चाहते थे कि लालाजी सामाजिक कार्य न करें। उनसे शुद्ध राष्ट्रीय कार्यों को धक्का लगता है और लालाजी सामाजिक कार्यों को संकुचित साम्प्रदायिक दृष्टि से न देखते थे। इसलिए उन्होंने पंडित मदनमोहन मालवीय के साथ स्वतंत्र राष्ट्रीय दल बनाया। उसकी ओर से निर्वाचित हो कर विधान सभा में प्रवेश किया।

उक्त शासन सम्बन्धी सुधारों के परिणाम की जाँच के लिए सन् १९२७ में ब्रिटिश पार्लियामेंट की ओर से कुछ लोग भारत आये। उनके नेता सर जान साइमन थे। इसलिए इस प्रतिनिधि मण्डल को साइमन आयोग कहा जाता है। इस आयोग में भारतीय जनता का कोई प्रतिनिधि न था इस कारण देश का जनमत इससे असन्तुष्ट हो गया। जनता ने इसके बहिष्कार करने का निश्चय किया। जहाँ कहीं भी साइमन और उनके साथी जाते वहाँ कोई उनके सामने गवाही देने न जाता। सारे शहर मे हड़ताल रहती, स्टेशन से उतरते ही काले झंडे दिखा कर लोग उनसे लौट जाने को कहते। केवल कुछ पिट्ठुओं के द्वारा सरकारी कर्मचारी आयोग का स्वागत और कार्य सम्पन्न करने का नाटक करते। ३० अक्टूबर सन् १९२७ को यह आयोग लाहौर पहुँचा। तब वहाँ भारतीय दण्ड-विधान की १४४ धारा लगा दी गयी थी। लोगों को सभा करने और जलूस निकालने से रोक दिया गया। फिर भी आयोग को देश के विरोध को प्रत्यक्ष सूचना देनी ही थी। इससे लाहौर की जनता काले झंडे ले कर वहाँ के स्टेशन पर पहुँच गयी। धीरे धीरे लाखों देश-प्रेमी जुट गये। उनके आगे वहाँ के सर्वश्रेष्ठ देशभक्त लाला जी थे। बासठ वर्ष के बूढ़े और उस समय रुग्ण लाला जी के आ जाने से जनता के उत्साह की सीमा न थी। अधिकारियों ने तुरन्त ही तितर-बितर हो जाने की आज्ञा दी। भला ऐसा कब हो सकता था। लोग आयोग के सामने विरोध प्रदर्शन के पहले वहां से कब हटने लगे। उधर

अधिकारी तो उनपर आक्रमण करने का बहाना ढूँढ ही रहे थे। उन्होंने भाड़ैत पुलिस को आज्ञा दी। वह निहत्थी भीड़ पर टूट पड़ी। डंडों और लाठियों से लोगों के सिर फोड़ने और हाथ-पैर तोड़ने लगी। परन्तु वे टस से मस न हुए। इसी प्रहार के शिकार बूढ़े लालाजी भी हुए। उनकी छाती पर गहरी चोट आयी। देह भी क्षत-विक्षत हो गयी। देशभक्त ने वीरतापूर्वक उन चोटों को सहन किया। उनका मन सदा की भाँति दृढ रहा। परन्तु बुढापे से जर्जर अशक्त तन तीव्र प्रहार न सह सका। चिकित्सा हुई, परन्तु निष्फल। वेदना बढ़ती ही गयी। ज्वर भी बढ़ता गया। १६ नवम्बर सन् ७७ की रात किसी प्रकार कटी। भोर हुआ। छः सात बजे के लगभग डबडबाई आँखों से लोगों ने उस जीवन पर्यन्त विरोधी सत्ता से संघर्ष मे कभी भी न हारने वाले योद्धा को मृत्यु के भीषण प्रहार के सामने हारते हुए देखा। देश ने छाती पर पत्थर रख कर यह दुःसंवाद सुना। सारा लाहौर हस्पताल के द्वार पर उमड़ पड़ा। वीर सेनानी के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने के लिए सबने आँसू बहाये और श्रद्धा के फूल अर्पित किये। सूर्यास्त के साथ-साथ रावी के तट पर चिता की लपटें उसके पार्थिव शरीर को ले कर शांत हुईं। देखने को लाला लाजपतराय न रहे, पर आज इतने दिनों बाद भी ऐसा जान पड़ता है मानो अभी कल तक वे हमारे बीच उपस्थित थे। ब्रिटिश राज्य सत्ता को हिला देने वाला उनका सिंहनाद आज भी हमारे कानों मे प्रतिध्वनित हो रहा है और सुनाई पड़ रहा है उनका जयघोष—ला ला ला ज प त रा य की ज य……

महात्मा गान्धी

मैं एक ऐसे भारत का निर्माण करना चाहता हूँ जिसमें दरिद्र से दरिद्र मनुष्य भी यह विचार कर सके कि यह देश उसका है, इसमें उसकी एक सक्रिय तथा विराट सत्ता है और इसमें है उसे मनुष्य की तरह जीवित रहने का अधिकार। उस भारत में ऊँची तथा नीची श्रेणी नाम की कोई वस्तु नहीं रहेगी और सभी सम्प्रदायों के लोग हिलमिल कर भाई-बहन की तरह रह सकेंगे। यह भारत छुआछूत के अभिशाप से मुक्त होगा, और मादकता का अभिशाप वहाँ से एकदम लुप्त हो जायगा। वहाँ स्त्रियाँ, पुरुष के समान ही अधिकारों का उपयोग करेंगी।

मुट्ठी भर हड्डियाँ ले कर वह निकल पड़ा, अकेला, निहत्था, इतना बड़ा स्वप्न प्रत्यक्ष करने के लिए। इतना अदम्य साहस। लोगों ने उसे पागल कहा। उसकी हँसी उड़ायी। उसपर पत्थर फेंके। मारा, पीटा। कारागार में बन्द किया। उनका तेज बढ़ता गया। एक दिन वह देश के राजनीतिक आकाश पर सबने प्रकाशमान ज्योतिपुञ्ज हो कर चमका। पृथ्वी ने उनकी आरती उतारी। गद्गद् कण्ठों ने उसकी जय बोली। कोटि कोटि कण्ठों का वह जयघोष सुन कर मदोन्मत्त राज्य-सत्ता चौंक पड़ी। उसका सिंहासन हिल उठा। मुर्दा जाति में नव चेतना का सञ्चार हुआ और सत्य हुआ उसका स्वप्न। जानते हो वह कौन है। नाटा, दुर्बल मनुष्य, सूखा चेहरा, प्रशान्त गम्भीर नेत्र। चादर की ओर

फैले हुए लम्बे कान। आजानु बाहु। कमर में घुटनों के ऊपर तक मोटी खादी का कपड़ा। शेष शरीर पर कोई कपड़ा नहीं। हाथ में लाठी। पैरों में चप्पल। यही था उसका बाना। जब वह हँसता तब उसके आगे के टूटे हुए दाँतों के भीतर से जो अट्टहास होता वह विचित्र वातावरण उपस्थित कर देता। कठिनाइयों विपत्तियों और अत्याचारों के बीच वह अपने विरोधियों के प्रति मन, वचन और कर्म से सद्भावना लिये ऐसे ही हँसता हुआ आया था। अकेला आया। सारे देश के कोटि-कोटि आबालवृद्ध नर-नारी उसकी पीछे हो लिये। उसके संकेत पर मर मिटना उन्होंने अपना परम पुरुषार्थ समझा। बड़ा ही भाग्यवान था २ अक्टूबर १८६९ का दिन और काठियावाड़ का पोरबन्दर। कौन जानता था कि देश के पश्चिम के इस छोटे से नगर में ऐसा बालक जन्म ले रहा है जो एक दिन भारत के मानचित्र का रङ्ग कुछ से कुछ कर देगा। वह बालक मोहनदास आगे चल कर मोहन दास करमचन्द गांधी नाम से विश्वविख्यात हुआ, महात्मा गांधी कहला कर, देश के कोने कोने मे पूजा गया और बापू के रूप में सबका प्यारा राष्ट्रपिता हुआ। उसके पिता करमचन्द लक्ष्मीदास गांधी राजकोट के दीवान थे। वे सत्यप्रिय उदार और साहसी थे। मा पुतलीबाई बड़ी धर्मभीरु और असाधारण कार्य-दक्ष थी। पिता-माता के आचार और गुण बालक मोहनदास ने ग्रहण किये। पहले उन्होंने पोरबन्दर मे ही पढ़ना लिखना आरम्भ किया। फिर राजकोट जा कर कई वर्ष तक वहाँ पाठशाला में शिक्षा प्राप्त की। तदनन्तर हाई स्कूल में भरती हुए। बाल्य

काल से ही वे ध्यान से पाठ तैयार करते और पुस्तकें पढ़ते। इन्हीं दिनों श्रवण की पितृभक्ति और सत्य-हरिश्चन्द्र नाटक के द्वारा वे माता-पिता की सेवा और सत्य की साधना में लग गये। तेरह वर्ष की वय में उनका विवाह कस्तूरबा से हो गया। लड़कपन से ही मोहनदास विचारशील और दृढ थे। इसी से उनके ऊपर कुसंगति का स्थायी प्रभाव न पड़ सका। उन्हें सिगरेट पीने और मांस खाने की कुटेव डालने की कुचेष्टा की गयी किन्तु वे उसके चक्कर से शीघ्र ही छुटकारा पा गये। उनका झुकाव छुटपन में ही धर्म की ओर हो गया। तुलसी-रामायण और गीता से जो प्रेम उस समय हुआ वह जीवन पर्यन्त बना रहा। नहीं, उत्तरोत्तर बढ़ता गया। रामनाम उनका एकमात्र सहारा हुआ। उसी के बल पर उन्होंने नैतिक साधना करके अपना चरित्र ऊँचा किया और महान संकटों में घिर जाने पर धैर्य न छोड़ा।

पिता की मृत्यु के पश्चात् गांधीजी सन् १८८३ में मैट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। फिर ४ सितम्बर सन् १८८८ को बैरिस्टर बनने के लिए इँगलैंड गये। वहाँ जाने के पहले उन्होंने माँ से तीन प्रतिज्ञाएँ कीं—मद्य न पिऊँगा, मांस न खाऊँगा और स्त्री-सम्पर्क न करूँगा। विलायत के विपाक्त वातावरण में वे अपने इस भीष्म व्रत में अटल रहे। जब कभी वे किसी चक्कर में पड़ते तब राम की विनती से बाल-बाल बच जाते। उन्हें विश्वास था कि मन में विकार आने पर उसे दूर करने की एकमात्र दवा है भगवान का सहारा। संयम और सादगी से जीवन बिताते हुए गांधी जी सन् १८९१ ई० में बैरिस्टर हो गये। अब स्वदेश

लौटने पर उन्हें अपनी माँ के वियोग का दुःखद समाचार मिला। कुछ दिन राजकोट में रह कर उन्होंने बम्बई में वकालत आरम्भ की। इतने में उन्हें पोरबन्दर की अब्दुल्ला ऐंड कम्पनी के मुकद्दमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफ्रीका जाने का अवसर मिला। वहाँ पहुँचते ही गांधी जी को भारतीयों के अपमान का प्रत्यक्ष दर्शन और अनुभव हुआ। न्यायालय में उनसे पगड़ी उतारने को कहा गया। प्रथम श्रेणी का टिकट ले कर यात्रा करते समय उन्हें गाड़ी से उतारा गया। घोड़ागाड़ी में भीतर स्थान न पा कर कोचवान के पास बैठना पड़ा, होटल में स्थान न मिला। ऐसे ही अगणित अपमान सहते हुए प्रवासी भारतीयों का जीवन वहाँ दूभर हो रहा था। गांधीजी ने अदालत के बाहर मुकद्दमे का निपटारा करवा दिया और भारतीयों की कठिनाइयाँ दूर करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। उन्होंने २२ मई सन् १८९४ को इंडियन कांग्रेस की स्थापना की। उसका उद्देश्य था—भारतीयों में राष्ट्रीयता का प्रचार और उनके कष्टों के दूर करने का सङ्गठित आन्दोलन करना। वहाँ उत्पन्न भारतीयों के ऊपर प्रतिवर्ष २५ पौंड कर लगता था। कांग्रेस के प्रयत्न से यह कर घट कर तीन पौंड रह गया। सन् १८९६ में गांधी जी कुछ दिनों के लिए भारत आये। यहाँ उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की दुर्दशा से लोगों को परिचित किया। देश के भिन्न भिन्न नगरों की यात्रा की, न्याय मूर्ति रानाडे, बदरुद्दीन तैय्यब जी, फिरोजशाह मेहता, लोकमान्य तिलक और गोखले आदि नेताओं से भेंट की। लेख, पुस्तक और व्याख्यान के द्वारा प्रचार किया।

इधर जो हो रहा था उसका समाचार दक्षिण अफ्रीका और इँगलैंड से छिपा न था। छः महीने के भीतर ही उन्हें फिर यहाँ से लौटना पड़ा। बत्तीस दिनों तक अकारण ही उनका जहाज बन्दरगाह के बाहर ही रखा गया। उससे उतरने पर कुपित गोरों ने उन पर पत्थर और सड़े अण्डे बरसाये। थप्पड़, घूँसे और डण्डे चलाये। अधमरे गांधी किसी प्रकार बचाये गये। इससे वहाँ के भारतीयों को बहुत क्षोभ हुआ। परन्तु गांधीजी ने उन आततायियों पर कोई मुकदमा न चलाया। उन्होंने कहा कि झूठी बातों के प्रचार से वे लोग उत्तेजित हो गये हैं। जब अपनी भूल समझेंगे तब इस दुर्व्यवहार के लिए स्वयं पछतायेंगे। हुआ भी ऐसा ही। सन् १८९९ मे अफ्रीका के बोअरों और अँगरेजों से लड़ाई छिड़ गयी। गांधीजी ने आहतों की सेवा के लिए दल बनाया। उनकी परिचर्या से अँगरेजों का सद्भाव बढ़ा। इस युद्ध के समाप्त होने पर गांधीजी ने स्वदेश लौटना चाहा। कोई उन्हें छोड़ना नहीं चाहता था। बिदाई के समय उन्हें और कस्तूरबा को बहुमूल्य उपहार भेंट किये गये। बहुत सोच-विचार कर उन्होंने उनको लोकसेवा के लिए वहीं छोड़ दिया। उनका मत था कि जो देश की सेवा करें उन्हें किसी प्रकार का उपहार न लेना चाहिए। ऐसा करना घोर अन्याय है। भारत आ कर गांधीजी ने पहली बार कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन देखा। वहाँ भारत के नेताओं से उनका परिचय हुआ। कांग्रेस ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार किया। इसके अनन्तर गांधीजी ने देश के विभिन्न स्थानों की यात्रा की।

गोखले की इच्छा थी कि गांधी स्थायी रूप से स्वदेश में ही रहें। गांधीजी को यह प्रस्ताव स्वीकार था। किन्तु कुछ ही दिनों में उन्हें फिर दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। वहाँ पहुँच कर उन्होंने जोहांसबर्ग से 'इंडियन ओपीनियन' नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। इसके द्वारा भारतीयों की राजनैतिक चेतना प्रकट की जाने लगी। इसी बीच गांधीजी के हाथ रस्किन की लिखी 'अंटू दी लॉस्ट' नाम की पुस्तक आयी। उन पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसकी तीन बातें गांधीजी की जीवनसङ्गिनी बनीं—(१) सब की भलाई में ही अपनी भलाई है (२) सबके कार्यों का महत्त्व समान होना चाहिए क्योंकि सब को पृथ्वी पर जीवित रहने का अधिकार है (३) मजदूरों और किसानों का जीवन ही जीवन है। गांधीजी ने सर्वोदय नाम दे कर इस पुस्तक का गुजराती में अनुवाद किया। वह आगे चल कर हिन्दी मे भी इसी नाम से प्रकाशित हुआ। इसी समय गांधीजी ने डर्बन से कुछ दूर फिनिक्स में आश्रम बनाया। वहाँ स्वावलम्बन द्वारा उनके साथी जीवन निर्वाह करते। इन्हीं दिनों गांधीजी ने जीवन को संयम से निभाने के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत लिया। कुछ समय पीछे उन्होंने देश-सेवा का भी असिधारा व्रत ग्रहण किया। उन्होंने इन दोनों प्रतिज्ञाओं का पालन जीवन के अन्तिम क्षण तक किया। इसी बीच दक्षिण अफ्रीका से भारतीयों को निकाल बाहर करने के लिए एक नया कानून बना। उसके विरोध में तीव्र आन्दोलन हुआ। अगणित लोगों ने सत्याग्रह किया, मार खायी और कारावास दण्ड भोगा। गांधीजी दो महीने के लिए बन्दीगृह

भेजे गये। यह उनका पहला कारावास था, फिर तो राजनीतिक कार्यों के लिए न जाने कितनी बार उन्होंने कारावास किया। कारागार की भयङ्करता उन्होंने जन साधारण के लिए मिटा दी और उसे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील कर्मवीरों के लिए परम पवित्र श्रीकृष्ण का जन्मस्थान बना दिया।

इस सत्याग्रह में गांधीजी को विपत्तियों के द्वारा अनेक यातनायें मिलीं। एक बार उनपर प्रहार भी हुआ। उससे उन्हें गहरी चोट आयी। उनके साथियों ने भी जुरमाने, बेंत और गोलियों का प्रहार सहा, फिर भी लोगों का उत्साह कम न हुआ। इसकी गूँज भारत में भी सुनायी पड़ी। अन्त में सत्याग्रहियों की विजय हुई। कुछ समय के अनन्तर गांधीजी इंगलैंड गये। उन दिनों गोखले भी वहाँ थे। अकस्मात् महायुद्ध का डंका बज गया। गांधीजी ने इंगलैंड के भारतीयों की सभा की। युद्ध में अँगरेजों की सहायता का निश्चय किया। शीघ्र ही स्वदेश लौटकर बड़े उत्साह से धन और जन जुटाने का कार्य आरम्भ कर दिया। उनके प्रयत्न से युद्ध कार्य मे भारत सरकार को यथेष्ट सफलता मिली। एक करोड़ से अधिक धन और पंद्रह लाख सैनिक भारत ने अँगरेजों को भेंट किये। उनमें एक लाख से अधिक भारतीय जवान काम आये। युद्धकाल मे गांधीजी ने गोखले के परामर्श से सारा देश घूम घूम कर देखा। अँगरेजी शासन में भारत की दुर्दशा को अपनी आँखों देख कर वे काँप उठे। इस बीच उन्होंने बिहार प्रदेश के चम्पारन जिले में नील की खेती करने वाले अंगरेज व्यवसाइयों के विरुद्ध सत्याग्रह भी किया और उनमें

सफलता प्राप्त की। वे बराबर कांग्रेस के अधिवेशनों में भी सम्मिलित होते रहे। वे लम्बे चौड़े भाषण न करते। थोड़ा बोलते किन्तु बहुत ही सोच विचार कर। उनकी तीव्र बुद्धि, दृढता और कार्य-प्रणाली देख कर सबकी आँखें उन्हीं की ओर लग गयीं। इधर महायुद्ध समाप्त होने को आया। ११ नवम्बर सन् १९१८ को सन्धि हुई। भारत को आशा थी कि युद्धकालीन सहायता के बदले स्वराज्य मिलेगा। किन्तु सन् १९१९ में जो शासन-सुधार घोषित हुआ, उससे देश की आशा पर पाला पड़ गया। इतना ही नहीं। युद्ध के दिनों देश को भीतरी विद्रोह से बचाने के लिए विशेष विधि (कानून) बनी थी। उसे भारत रक्षा विधि नाम दिया गया था। अब उसका प्रयोजन न था फिर भी साम्राज्यवादी अँगरेजों ने और भी कड़ा रूप दिया। 'रौलट ऐक्ट' के नाम से उसे स्थायी बना दिया। इस विधि के अनुसार पुलिस के अधिकारों की कोई सीमा न रही। अधिकारी जब जिसे चाहते कारण बताये बिना अनिश्चित काल तक कारागार में बन्द कर सकते थे। इस नये दण्ड-विधान से देश तिलमिला उठा। गांधीजी ने इसके विरुद्ध देशव्यापी हड़ताल की घोषणा की। छोटे बड़े शहर ही नहीं गाँव के गाँव सारे कामकाज बन्द करके एक स्वर से बोल उठे—रौलट ऐक्ट का नाश हो। हड़ताल के दिन शान्त जनता पर गोलियाँ चलीं। सबसे भयङ्कर हत्या-काण्ड हुआ अमृतसर के जलियाँवाला बाग में। १३ अप्रैल सन् १९१९ को वहाँ भारतीय स्वतन्त्रता के महायज्ञ का आरम्भ हुआ। चारों ओर से जनरल डायर की सेना ने उसे घेर लिया।

भीड़ पर गोलियाँ चलने लगीं। जिधर भी लोग भागते उधर ही मशीनगनें मुड़ जातीं। इसके बाद पंजाब में जो अत्याचार हुए उन्हें सुनकर सारे देशवासियों के रोंगटे खड़े हो गये। सर्वत्र विरोध हुआ। गांधीजी इस हत्याकाण्ड को देख कर अपना भावी कार्यक्रम स्थिर करने के लिए दिल्ली चल पड़े। वे बीच में ही पकड़ लिये गये। इस समाचार से दिल्ली अहमदाबाद आदि स्थानों में कूटिनीतिज्ञ अँगरेजों की प्रेरणा से हिन्दू-मुसलिम दंगे हो गये। इस प्रकार साम्प्रदायिक झगड़ों में उलझा कर शासकों ने देश में राजनीतिक आन्दोलन न होने दिया। सत्याग्रह स्थगित करके गांधीजी ने निश्चित किया कि लोगों को चाहिए—सरकारी उपाधियाँ और अवैतनिक पद त्याग दें। स्कूल-कालेज छोड़ दें। अदालतों और विधान-परिषदों का बहिष्कार करें। विदेशी कपड़े और पदार्थ काम में न लायें। घरघर चर्खा चला कर खद्दर का प्रयोग करें और हिन्दू मुसलमान मिल कर रहें। ये सब काम अहिंसा के द्वारा हों। उन्होंने घोषित किया कि ऊपर लिखी बातें हो जायँ तो साल भर के भीतर स्वराज्य मिल जायगा।

यही निश्चय सन् १९२० में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में देश ने किया। जनता ने दिल खोल कर इनका स्वागत किया। देखते-देखते एक छोर से दूसरे छोर तक असहयोग की धूम मच गयी। सभी श्रेणियों-वर्गों के नरनारी बाल वृद्ध महात्मा गांधी की जय बोलते हुए निकल पड़े। विद्यार्थियों ने स्कूल छोड़े। वकीलों ने कचहरियां त्यागीं। गांव-गांव विदेशी कपड़ों और वस्तुओं की होलियां जलीं। जेलें भर गयीं। गुजरात के बारडोली

ताल्लुके में गांधीजी करबन्दी का आन्दोलन आरम्भ करना चाहते ही थे कि गोरखपुर जिले में चौरीचौरा के निवासियों ने पुलिस के बाइस कर्मचारियों को थाने में बन्द करके जला दिया। गांधीजी ने देखा कि देश उनके आदर्श के अनुसार पूर्ण अहिंसा के द्वारा सत्याग्रह करने में समर्थ नहीं है। उन्होंने सत्याग्रह स्थगित कर दिया और रचनात्मक कार्य को ही कांग्रेस का ध्येय निश्चित किया। लोगों के उत्साह को अकस्मात् धक्का लगा। अचानक आन्दोलन बन्द होने से शासकों को अवसर मिल गया। उन्होंने धरपकड़ आरम्भ कर दी। गांधीजी को छः वर्ष की सजा हुई। कुछ दिनों में आँत फूलने की बीमारी से गांधीजी की शल्य चिकित्सा हुई और वे सन् १९२४ में छोड़ दिये गये। उन्होंने बम्बई के पास जुहू में समुद्र-तट पर स्वास्थ्य सुधार किया और फिर स्वतन्त्रता की लड़ाई के लिए देश को तैयार करने की योजना बनायी। उन दिनों देश भर में किसी न किसी बहाने हिन्दू मुसलिम दंगे हो जाया करते थे। उनको सदा के लिए शान्त करने के उद्देश्य से उन्होंने २१ दिन का प्रायोपवेशन (अनशन) किया। सन् १९२४ में बेलगाँव अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। खादी प्रचार और हरिजन उद्धार के उद्देश्य से उन्होंने देश भर में भ्रमण किया। इससे दमन से त्रस्त जनता को फिर बल मिला। उन्होंने हरिजन सङ्घ की स्थापना की। मद्य-निषेध, शिक्षासुधार, हिन्दी प्रचार आदि रचनात्मक कार्यों का भी सङ्घटन किया। आगे चल कर २६ जनवरी सन् १९३० को देश ने पहलेपहल अपने पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य का महोत्सव

मनाया। इसी साल १२ मार्च को नमक विधि तोड़ने के लिए गांधी जी ने अहमदाबाद के साबरमती आश्रम से प्रस्थान किया। छः अप्रैल को वे समुद्र के किनारे डांडी पहुँचे। वहाँ नमक बनाने के अपराध में पकड़ लिये गये। फिर तो देश में लाखों सत्याग्रही नमक बनाने के अपराध में जेल पहुँचे। कुछ दिनों पीछे समझौते के लिए लन्दन में भारत के विविध वर्गों के नेता बुलाये गये। वहाँ समझौता न हो सका और गांधीजी निराश लौट आये। यहाँ आने पर दूसरी ही स्थिति मिली। कांग्रेस अवैध घोषित हो गयी। गांधीजी भी ४ जनवरी सन् १९३२ को पकड़ लिये गये। अँगरेज कूटनीतिज्ञों ने पहले के राजनीतिक सुधारों में हिन्दुओं और मुसलमानों के निर्वाचन क्षेत्र अलग-अलग कर दिये थे। अब इन नये सुधारों में हरिजनों को हिन्दुओं से पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया। गांधीजी ने ऐसा न होने देने के लिए अनशन किया। इससे हिन्दुओं की एकता भङ्ग न हो सकी।

कुछ ही दिनों में जेल से छूटने के बाद गांधी जी ने हरिजन-सेवा के लिए सन् १९३३ में देश का पुनः भ्रमण किया। उन्हें इस कार्य के लिए आठ लाख रुपया प्राप्त हुआ। फलतः उन्होंने हरिजन सेवा संघ की स्थापना की। सन् १९३९ में योरोप में युद्ध की ज्वाला धधक उठी। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के परामर्श के बिना ही ब्रितानवी सरकार ने भारत को भी युद्ध में घसीट लिया। गांधीजी ने इसका विरोध किया। कांग्रेसी मन्त्रियों ने अपने पद त्याग दिये। वे और दूसरे कांग्रेस कार्यकर्त्ता फिर जेल में ठूँस दिये गये। सन् १९४१ में युद्ध की स्थिति और भी भीषण

हो गयी। जापान आँधी की तरह उठा और पूर्वी द्वीप समूह, हिन्दचीन, मलाया, बर्मा आदि को समेटता हुआ भारत की पूर्वी सीमा पर आ धमका। वहाँ नेताजी सुभाषचन्द्र की अध्यक्षता में आजाद हिन्द सेना भी बन चुकी थी। इससे देशवासियों को फुसलाने के लिए लन्दन से क्रिप्स साहब आये। उन्होंने जो अधिकार देने का प्रस्ताव किया वह ठुकरा दिया गया। गांधीजी ने अँगरेजों से कहा 'भारत छोड़ो'। ९ अगस्त सन् १९४२ के चिर-स्मरणीय दिन अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बम्बई में देश की माँग की घोषणा की—भारत छोड़ो। शासकों ने उसी दिन वहाँ एकत्र नेताओं को पकड़ लिया। अन्यत्र भी जहाँ जो प्रभावशाली कार्यकर्त्ता मिला उसे भी कारागार भेज दिया। सञ्चालकों के अभाव में भी देश की जनता प्रचण्ड दमन से न घबरायी। सरकारी थाने, डाकखाने, तारघर, स्टेशन धू धू कर जल उठे। तार कट गये, रेलगाड़ियों का आना-जाना बन्द हो गया। उन्हें लूट लिया गया। उधर सरकारी अत्याचारों का बाँध भी टूट गया। कोड़े चले, लाठियाँ गोलियाँ चलीं, घर लूटे गये, उजाड़े गये, हाहाकार मच गया। सरकार ने गांधीजी के ऊपर इन विध्वंसकारी कामों का सारा दोष मढ़ा। वे उन दिनों पूना के आगाखाँ महल में बन्दी थे। इन आरोपों का प्रतिवाद करने के लिए उन्होंने २१ दिनों का उपवास किया। कुछ समय के अनन्तर अस्वस्थ होने के कारण वे ५ मई सन् १९४४ को कारागार से मुक्त कर दिये गये। इस बीच बंगाल में भयङ्कर अकाल से ५० लाख व्यक्ति मर चुके थे। मुसलिम लीग अलग देश माँगने लगी थी। गांधीजी ने मुसलमानों के नेता

जिन्ना से समझौता करना चाहा, परन्तु सफलता न पायी। सन् १९४५ में तत्कालीन वायसराय ने सर्वदल-सम्मेलन किया। उसमें कोई समझौता न हो सका।

इसी वीच दिल्ली मे अस्थायी मन्त्रिमण्डल वन चुका था। उसमें पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया था। मुसलिम लीग ने हिन्दुओं के विरुद्ध प्रत्यक्ष विद्रोह की घोपणा की। कलकत्ता में दंगे की आग जल उठी। नोआखाली मे मुसलमानों ने हिन्दुओं पर अमानुषिक अत्याचार किये। फिर विहार की वारी आयी। वहाँ से उठकर दंगे की लपटें पंजाव और सीमा प्रान्त को भस्म करने लगीं। गांधीजी की आत्मा कराह उठी। वे दौड़ पड़े नोआखाली की ओर! वहाँ गाँव-गाँव, घर-घर जा कर दुखी लोगों को ढारस बँधाया। ३ जून सन् १९४७ को देश ने सुना कि उसके दो टुकड़े कर दिये जायेंगे और इस छिन्न-भिन्न रूप मे वह स्वतन्त्र कर दिया जायगा। गांधीजी ने नोआखाली के किसी गाँव में यह दुःसह संवाद सुना। उनके हृदय में अपनी जीवन-साधना की सफलता से तनिक भी हर्ष का सञ्चार न हुआ। १५ अगस्त को देश ने स्वाधीनता का महोत्सव मनाया पर पंजाब में उससे पहले ही आग लग चुकी थी। उस समय गांधीजी कलकत्ते में थे। वहाँ की साम्प्रदायिक विषमता दूर करने में लगे ही थे कि उन्हें पंजाब के उपद्रवों की सूचना मिली। वे चट दिल्ली पहुँचे। वहाँ झुण्ड के झुण्ड पंजाबी शरणार्थी चले आ रहे थे। उनके मुँह से लूट, बलात्कार और संहार की घटनायें सुन कर दिल्ली निवासी बौखला उठे थे।

नहीं, सारा देश विवेकशून्य सा हो रहा था। दिल्ली में भी दंगा हो गया। वहाँ के मुसलमानों से पंजाबी मुसलमान के किये अत्याचारों का बदला लिया जाने लगा। अमानुषिक कृत्य गांधीजी से न देखे गये। उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगा कर धर्मान्ध लोगों को रोकने की चेष्टा की। दंगा तो रुक गया किन्तु लोगों का मन साफ न हो सका। उसे शुद्ध करने के लिए गांधीजी नित्य सायंकाल की प्रार्थना के बाद प्रवचन करते। लोगों को धर्म के मूल तत्व समझाते। प्रेम, अहिंसा और भाईचारे का महत्त्व दिखाते। उनकी प्रार्थना सभा में कुछ लोग बहुधा आपे से बाहर हो जाते। शान्ति की मूर्ति गांधीजी सबको ठण्ढा करते। २० जनवरी को प्रार्थना-स्थल से कुछ दूर पर बम फटा। गांधीजी को उसकी चोट न लगी। परन्तु ३० जनवरी की साँझ बड़ी भयङ्कर हुई। उस दिन प्रार्थना के लिए नियत समय से कोई पाँच मिनट पीछे महात्मा जी सभा भवन की ओर जा रहे थे कि अकस्मात् एक व्यक्ति आगे बढ़ा। जान पड़ा वह उनके पैर छूने के लिए झुक रहा है, किन्तु पलक मारते-मारते उसने पिस्तौल दाग दी। धायँ-धायँ—सुनाई पड़ा। 'हे राम' गांधीजी के मुँह से निकला और वे धड़ाम से गिर पड़े। सारी सभा में हाहाकार मच गया। तुरन्त उपचार हुआ, परन्तु सब निष्फल। सारी दिल्ली उमड़ आयी और पाँच बज कर चालीस मिनट किसी पर किसी ने लड़खड़ाती वाणी से बापू के महाप्रस्थान का सङ्केत किया। कुछ ही देर बाद सारे संसार ने अखिल भारतीय रेडियो से सुना—महात्मा गांधी आततायी की गोली से निहत हो गये। एक के बाद एक

चार गोलियाँ छोड़ी गयीं। एक उनकी छाती में दाहिनी ओर और दो उनके पेट में लगीं। पाँच बजकर चालीस मिनट पर उन्होंने अन्तिम साँस ली। भगवान उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे। इस प्रकार जिस हिन्दू मुसलिम एकता के लिए उन्होंने जीवन पर्यन्त चेष्टा की, उसी के लिए उन्होंने अपने प्राणों की भेंट चढ़ा दी। अपने सिद्धान्त के लिए कितनों ने इस प्रकार प्राण उत्सर्ग किये।

महात्मा गांधी का चरित्र परम-पवित्र था। वे नियम पालन करने में अद्वितीय थे। ठीक समय पर ही नियत कार्य पूरा करते—सवेरे घूमने से लेकर साँझ की प्रार्थना तक कोई काम विलम्ब से न करते। वे सदाचार, सचाई, अहिंसा और प्रेम के साक्षात् स्वरूप थे। उन्हें भगवान पर अटल विश्वास था। कठिनाई के समय भी उनका विश्वास कभी नहीं डिगा। उनका अन्तिम बोल भी राम था। उन्होंने अपने विरोधी से भी कभी वैर न माना। सत्य और अहिंसा के द्वारा वह काम किया जो पहले किसी ने सोचा तक न था। अकर्मण्य और कोरी बातें करने वाले लोगों को उन्होंने कर्मवीर बना दिया। निर्बल, असहाय और निरस्त्र जाति को ऐसी शक्ति दी कि उसके सामने संसार की सबसे प्रबल समझी जाने वाली राज्य-सत्ता ने घुटने टेक दिये। उसने पीड़ितों को सहारा दिया। आततायियों को सचेत किया और पथभ्रष्ट लोगों को सत्य का मार्ग दिखाया। अपने जीवन काल में उन्हें जितना सम्मान मिला, उतना कदाचित् ही किसी अन्य व्यक्ति को किसी भी देश या काल में मिला हो। वे अपने समय में संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे।

डा० चन्द्रशेखर वेङ्कट रामन

चौड़े ललाट के ऊपर सफेद मदरासी ढंग की पगड़ी। तेज-पूर्ण आँखें, चौड़ी नाक, लम्बे कान और दृढतासूचक कुछ मोटे ओंठ। गम्भीर चिन्तनशील मुख-मुद्रा। बन्द गले का कोट। सादगी की मूर्ति। किन्तु विश्व भर के वैज्ञानिकों में परम प्रतिष्ठित। ये हैं डा० रामन। इनके आविष्कारों ने विज्ञान जगत् में भारत को बहुत ही ऊँचा स्थान दिलाया है। दक्षिण भारत में त्रिचनापल्ली प्रसिद्ध नगर है। वहाँ चन्द्रशेखर अय्यर रहते थे। उनकी पत्नी पार्वती अम्मल भी वहीं के प्रतिष्ठित संस्कृतज्ञ शास्त्री परिवार की थीं। चन्द्रशेखर स्थानीय हाई स्कूल में शिक्षक थे। इसी अय्यर दम्पति के दूसरे पुत्र वेङ्कट रामन हैं। उनका जन्म १७ नवम्बर सन् १८८८ को हुआ। उनके जन्म के अनन्तर चन्द्रशेखर अय्यर भौतिक विज्ञान में बी० ए० हुए। तब वे त्रिचनापल्ली के कालेज में अध्यापक हुए। फिर सन् १८९२ में वे आन्ध्र में विशाखा-पट्टम चले गये। वहाँ हिन्दू कालेज में भौतिक विज्ञान के लेक्चरर नियुक्त हुए। बालक वेङ्कट रामन ने अल्पवय में ही अँगरेजी का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। पिता से विज्ञान के प्रति प्रेम करना सीखा। हाई स्कूल पहुँचते-पहुँचते उसने भौतिक विज्ञान के विशिष्ट ग्रन्थों को पढ़ लिया। वह अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा करके सदा अध्ययन में लीन रहता। १२ वर्ष की अल्पायु में मैट्रिकुलेशन और दो वर्ष पीछे एफ० ए० परीक्षा में सम्मान के साथ प्रथम श्रेणी में

उत्तीर्ण हुआ। तब मद्रास के प्रेसीडेंसी कालेज में पढ़ने गया। उस समय किसी को विश्वास न होता कि वह दुबला पतला, आकार और कद में छोटा बालक बी० ए० का विद्यार्थी है। ऊँची नौकरी के विचार से प्रतियोगिता परीक्षाओं में सम्मिलित होना पड़ता है। वेङ्कट रामन जैसे मेधावी और व्युत्पन्न विद्यार्थी से उनमें सफलता की आशा कौन न करेगा। इसलिए प्रतियोगिता में सुभीते के विचार से उसको विज्ञान छोड़ देने का परामर्श दिया गया। उसने यह प्रस्ताव स्वीकार न किया। कहा—मैं तो उसी विषय का अध्ययन करूँगा जो मुझे बहुत अधिक अच्छा लगता और जिसके प्रति मेरी रुझान है। इससे उसकी दृढ़ता की सूचना मिलती है। उसने कालेज में उपलब्ध भौतिक विज्ञान की सभी पुस्तकें पढ़ डालीं। परीक्षा के लिए नियत प्रयोगों के अतिरिक्त अन्य प्रयोग किये। उनकी लगन देख कर अध्यापकों ने उन्हें प्रयोगशाला में काम करने की सुविधाएँ प्रदान कर दीं। सन् १९०४ में रामन प्रथम श्रेणी में गणित, मकेनिक्स और भौतिक विज्ञान ले कर बी० ए० हुए। विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम आने के कारण उन्हें बहुत से पदक और पारितोषिक मिले। इसके अनन्तर उन्होंने भौतिक विज्ञान में एम० ए० किया। ये विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम ही नहीं हुए अपितु उन्हें इतने अंक मिले जितने अब तक पहले के किसी परीक्षार्थी को नहीं मिले थे।

ऐसे असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न थे वेङ्कट रामन। उनकी विशेष योग्यता पर मुग्ध होकर मद्रास सरकार ने उनको छात्रवृत्ति दे कर भौतिक विज्ञान का अध्ययन करने के लिए इंगलैंड

भेजना चाहा। किन्तु डाक्टरों ने उनको समुद्र-यात्रा के लिए उपयुक्त न समझा इससे वे विलायत न जा सके। इस पर वे बहुत निराश हुए। उन दिनों सर्वोच्च सरकारी सेवा के लिए इंगलैंड जाकर प्रतियोगिता परीक्षाएँ देनी पड़ती थीं। केवल अर्थ विभाग की परीक्षा भारत में होती थी। विवश हो रामन ने उसमें सम्मिलित होने का निश्चय किया। जनवरी में एम० ए०, की परीक्षा दे कर फरवरी में उक्त परीक्षा में सम्मिलित हुए। इस परीक्षा के लिए उन्होंने अंगरेजी साहित्य, इतिहास, राजनीति और संस्कृत विषय लिये। विद्यार्थी जीवन में सदा विज्ञान का अध्ययन करने वाले के लिए इन नवीन विषयों का अध्ययन करना बड़े ही साहस का काम था। सो भी प्रतियोगिता के लिए, और ऐसी प्रतियोगिता के लिए जिसमें सम्मिलित होने को एम० ए० की परीक्षा के बाद इनगिने दिन ही शेष रह गये हों। इन विषयों का अध्ययन उन्होंने एम० ए० की परीक्षा के कुछ महीने पहले ही आरम्भ किया था फिर भी आश्चर्य यह कि इस प्रतियोगिता मे वे भारत भर में प्रथम हुए। फलतः २० वर्ष की अल्प वय में वे डिप्टी एकाउंटेंट जनरल नियुक्त हुए। अब तक इतनी छोटी अवस्था का इतना बड़ा अधिकारी कभी भारत सरकार की सेवा मे नहीं लिया गया था। इसी समय उनका विवाह मद्रास के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार की कन्या से हो गया।

श्री रामन पहलेपहल कलकत्ते में उप महासंख्यानक (डिप्टी एकाउंटेंट जनरल) नियुक्त हुए। वहाँ उन्होंने तीन वर्ष तक काम किया। फिर रंगून और नागपुर में रहे। तदनन्तर सन्

१९११ में पुनः कलकत्ते आ गये। अब आप डाक और तार विभाग के महासंख्यानक नियुक्त किये गये। इस पद पर सन् १९१७ तक सफलतापूर्वक काम करके सम्मान के पात्र हुए। इतने महत्त्व और दायित्व से ऊंचे पद पर काम करते हुए भी रामन ने विज्ञान का नाता निरन्तर बनाये रखा। जब छुट्टी मिलती तब वे वैज्ञानिक अनुशीलन में लगे रहते। कलकत्ते में पहली बार रहने के समय ही वे वहाँ की भारतीय विज्ञान परिषद् (इंडियन एसोसियेशन फार दि कल्टिवेशन आफ साइंस) के सदस्य हुए। उसकी प्रयोगशाला में उनके किये अनुसन्धानों को देश विदेश में बड़ी ख्याति हुई। इन्हीं दिनों उनका परिचय विख्यात शिक्षा-शास्त्री और गुणग्राहक सर आशुतोष मुखर्जी से हुआ। वे उन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति (वाइस चांसलर) थे। दुबारा कलकत्ता पहुंचने पर रामन फिर उक्त परिषद् की प्रयोगशाला में अनुसंधान करने लगे। वहाँ वे अगले बीस वर्ष अपने वैज्ञानिक कार्यों में तत्परता से लगे रहे। उनके द्वारा संसार के श्रेष्ठ वैज्ञानिकों में गिने जाने लगे। इसी बीच कुछ ऐसा संयोग हुआ कि उनके जीवन की धारा ही बदल गई। सर आशुतोष मुखर्जी ने सन् १९१४ में कलकत्ता का विज्ञान महाविद्यालय (साइंस कालेज) स्थापित किया। उसके आचार्य पद के लिए योग्य व्यक्ति की आवश्यकता पड़ी। सर आशुतोष ने यह सोचा कि रामन उसे स्वीकार कर लेते तो अत्युत्तम होता। उन्होंने उनसे इसका प्रस्ताव किया। विज्ञान के साधक को अपने मन के अनुकूल मार्ग मिला। उन्होंने ऊँचे पद, उच्चतर पदों और प्रति

की भावी आशा और अधिक वेतन एवं राजकीय प्रतिष्ठा को छोड़ दिया। अपेक्षाकृत कम वेतन ले कर विज्ञान के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। उनके महत्त्वपूर्ण अनुसन्धानों से कलकत्ता विश्वविद्यालय का भौतिक विज्ञान का विभाग एवं वहाँ की विज्ञान-परिषद् की प्रतिष्ठा बढ़ी। सन् १९१७ में उन्होंने विज्ञान की एकान्त उपासना आरम्भ की। अगले पन्द्रह वर्ष तक कलकत्ता में रह कर उन्होंने स्वयं वैज्ञानिक अनुसंधान किये और अपने अनेक प्रतिभाशाली शिष्यों से कराये। उनके फल-स्वरुप आचार्य रामन ने विज्ञान के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों को आगे बढ़ाया। अब तक दो सहस्र से अधिक अनुसन्धान उनके पथप्रदर्शन के परिणाम रूप में विविध देशों के वैज्ञानिक कर चुके हैं, फिर भी उनका ताँता बन्द नहीं हुआ। इससे अनुमान किया जा सकता है कि विज्ञान के क्षेत्र में डा० रामन की कितनी देन है।

डा० रामन ने विद्यार्थी जीवन में ही अनुसंधान का कार्य आरम्भ कर दिया था। उन्होंने ध्वनि विज्ञान के सम्बन्ध में एम० ए० होने के पहले ही खोज करके नये तथ्यों का पता लगाया था। इसी प्रकार, वर्ण पदमापक (स्पेक्ट्रोमीटर) का प्रयोग करते समय उन्होंने अठारह वर्ष की वय में कुछ नई बातों का अनुसन्धान किया था। उनका विवरण लंदन के 'फिलासफिकल मैगज़ीन' में प्रकाशित हुआ था, इससे उनके अध्यापक भी दंग रह गये थे। इस प्रकार बाल्यकाल से ही उनमें अनुसन्धान की प्रवृत्ति अङ्कुरित होने लगी थी। अर्थ विभाग में सेवा करते समय वे कम्पन और शब्द विज्ञान (वाइब्रेशन ऐंड साउंड) के

सम्बन्ध में अनुसन्धान करते रहे। उन्होंने वीणा, तानपूरा, मृदङ्ग वायोलिन, पियानो आदि वाद्य यन्त्रों के ध्वनि सम्बन्धी गुणों का विशेप अध्ययन किया। उन्होंने ध्वनि-विज्ञान के विपय में जो अनुसन्धान किये, उनसे उसके सम्बन्ध में बहुत सी नयी बातों का पता चला। कलकत्ता में विज्ञान महाविद्यालय के आचार्य होने के पश्चात् रामन ने प्रकाश और रङ्ग के विपय में अनुसन्धान किया और कराया। उन्होंने आकाश में कुहरे और हलके बादलों से बने हुए रंगीन किरीटों (Coronas कोरोनॉज) और इन्द्रधनुपों के रङ्गों की व्याख्या की। अभ्रक की बहुत पतली परतों, हवा और पानी के मिलने से बने हुए बहुत ही सूक्ष्म पटल (फिल्म) आदि के रंगों का विश्लेपण और अध्ययन भी इसी समय आरम्भ किया। इन्हीं दिनों प्रकाश की किरणों के किनारों पर मुड़ने और अन्य बातों का अनुसन्धान किया। उन्होंने दो सौ फीट लम्बी ऐसी नलिका में प्रकाश का वेग जानने का प्रयत्न किया जिसमें बहती हुई हवा भरी थी। इन अनुसन्धानों से रामन प्रकाश विज्ञान के प्रमुख आचार्य माने गये।

सन् १९२१ की ग्रीष्म ऋतु में आचार्य रामन ने पहलेपहल समुद्र-यात्रा की। उन्होंने समुद्र के जल के नीले होने का कारण जानना चाहा। सितम्बर में वे विलायत से लौटे। तब उन्होंने जल और उसके सदृश पारदर्शक द्रव में हो कर प्रकाश के आर पार जाने का अनुशीलन आरम्भ किया। इसके बाद तीन वर्ष तक उन्होंने इसी सम्बन्ध में अन्वेषण किया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि अणुओं की गति के कारण प्रकाश का परिक्षेपण

होता है। यह परिक्षेपण केवल पारदर्शक द्रवों में नहीं होता वरन् बरफ और स्फटिक जैसे ठोस पारदर्शक पदार्थों में भी होता है। उनके अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ कि प्रत्येक रासायनिक अणु अपने अपने ढंग से प्रकाश का परिक्षेपण स्वतन्त्र रूप से करता है। आचार्य रामन के इस सिद्धान्त के पहले वैज्ञानिक मानते थे कि द्रव पदार्थ वायव्य एवं वाष्प के समान ही सङ्घटित होते हैं। परन्तु इस अनुन्धान से सिद्ध हुआ कि द्रव पदार्थों का सङ्घटन ठोस पदार्थों के अनुरूप होता है। इस निष्कर्ष ने उनको एक्स किरणों की सहायता से द्रव पदार्थों की बनावट के अध्ययन करने में लगाया। इस अध्ययन से भौतिक विज्ञान और रसायन दोनों के लिए बहुत-सी काम की बातें विदित हुईं। कहा जा चुका है कि डा० रामन ने प्रकाश विज्ञान के सम्बन्ध में बहुत खोज की थीं। अब उन्होंने जानना चाहा कि पदार्थों को शक्तिशाली चुम्बकीय क्षेत्रों में रखने से उनके प्रकाश सम्बन्धी कार्य कैसे होते हैं। इससे बहुत सी नयी बातें मालूम हुईं। पता चला कि बहुत से पदार्थों को तोड़ कर बहुत महीन चूरा करने से उनके चुम्बकीय कार्य पहले जैसे नहीं रह जाते।

ऊपर प्रकाश के परिक्षेपण के सम्बन्ध में की जाने वाली खोज का उल्लेख हो चुका है। परिक्षिप्त प्रकाश में जो किरणें दिखायी पड़ीं उन्हें 'रामन किरण' नाम दिया गया। आगे चल कर यह सिद्ध किया गया कि प्रकाश का रंग परिक्षेपण के द्वारा बदल जाता है। इसे यों समझिये। साधारण श्वेत प्रकाश अथवा सूर्य के प्रकाश में कई रंगों की किरणें होती हैं। यदि उन किरणों को

साधारण काँच के त्रिपार्श्व (तिपहल) में हो कर डाला जाय तो ये रंग अलग किये जा सकते हैं। ऐसा करने से एक रंगीन पट्टी बन जाती है। जैसी इन्द्रधनुष के रंगों की पट्टी होती है। कपड़े के टुकड़े, कागज, लकड़ी आदि का धरातल विषम होता है। उनपर पड़ने से प्रकाश की किरणें इधर-उधर बिखर वा फैल जाती हैं। परन्तु इससे प्रकाश के वास्तविक गुण बदलते नहीं। जब कभी सफेद प्रकाश रंगीन कपड़े कागज वा अन्य वस्तु पर पड़ता है तब प्रकाश के कुछ रंग उनमें सोख जाते हैं और उनका शेष भाग फैल जाता है। जो पदार्थ पारदर्शक नहीं होते उनपर प्रकाश के परिक्षेपण से कोई रंग नहीं उत्पन्न होता। परन्तु पानी के सदृश पारदर्शक पदार्थ पर प्रकाश के बिखरने से नये रंग दिखलायी पड़ते हैं। यह सिद्धान्त 'रामन प्रभाव' के नाम से विख्यात हुआ। इससे डा० रामन का बड़ा नाम हुआ। सन् १९३० में उन्हें नोबुल पुरस्कार मिला। भारत में डा० रामन ही पहले वैज्ञानिक हैं जिन्हें अपनी विज्ञान सम्बन्धी खोजों के लिए यह प्रसिद्ध पुरस्कार प्राप्त हुआ है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद भारत के इस दूसरे सपूत ने इस प्रकार उसका माथा संसार में ऊँचा किया। इसको पाने के अनन्तर वे स्वीडन, नार्वे. डेनमार्क. जर्मनी. आयरलैंड. फ्रांस. स्विट्ज़रलैंड. इटली. सिसली आदि देशों में निमन्त्रित और प्रतिष्ठित हुए। उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी। इसके बाद स्वदेश और विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें पी० एच-डी०, डी० एस-सी०, एल-एल० डी० आदि उपाधियों से सम्मानित किया। इससे पहले ही वे लन्दन

की रायल सोसाइटी के फेलो बनाये जा चुके थे। केवल नवीन अनुसन्धान और आविष्कार करने वाले वैज्ञानिक इस सोसाइटी के सदस्य चुने जाते हैं। डा० रामन के पहले आचार्य रामानुजम् और जगदीशचन्द्र वसु—ये दो महापुरुष ही यह सम्मान पाने के अधिकारी समझे गये थे। ब्रिटानवी सरकार ने उन्हें नाइट बनाकर उनकी महत्ता स्वीकार की थी। आगे चल कर सन् १९४१ में अमेरिका का सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक पुरस्कार 'फ्रैंकलिन पदक' उन्हें प्रदान किया गया। इससे उनकी प्रतिष्ठा और बढ़ी।

सन् १९३२ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करके डा० रामन बंगलोर के विख्यात इंडियन इंस्टीच्यूट आफ साइंस (भारतीय विज्ञानशाला) का सञ्चालन कर रहे हैं। उनकी देख रेख में अनेक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक अनुसन्धान हुए हैं। कोई ६४ वर्ष के डा० रामन नवयुवकों से अधिक उत्साह के साथ आज भी अपनी साधना में तत्पर हैं। वे मानो जन्म से ही वैज्ञानिक हैं। उन्होंने किसी विदेशी विज्ञानाचार्य से अनुसन्धान करने का ढंग नहीं सीखा। जो कुछ किया है वह अपनी ही स्वतन्त्र सूझ के सहारे। उन्हें अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं पर अधिकार है। वे विज्ञान के अतिरिक्त समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र राजनीति और इतिहास के भी विद्वान हैं। इतने बड़े वैज्ञानिक होते हुए भी बहुत सीधे सादे ढंग से रहते हैं। अभिमान तो उन्हें छू तक नहीं गया। बड़े ही संयम से रहते हैं। निरन्तर विज्ञान की साधना में लगे रहते हैं। वे सचमुच महान हैं।

———

लोकनायक जवाहरलाल नेहरू

"बहादुरी में कोई उनसे बढ़ नहीं सकता और देश-प्रेम में उनसे आगे कौन जा सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि वह उतावले और अधीर हैं। यह तो विशिष्ट गुण हैं। फिर जहाँ उनमें वीर योद्धा की तेजी और अधीरता है वहीं राजनीतिज्ञ का विवेक भी। निश्चय ही वे अपनी स्थिति से बहुत आगे की बात सोचने वाले उग्रवादी हैं। वह स्फटिक मणि की भाँति पवित्र हैं। उनकी सत्यशीलता संदेह से परे है। वे अहिंसक और अनिन्दनीय योद्धा हैं। राष्ट्र उनके हाथ में सुरक्षित है।"

सन् १९२९ में यह मत महात्मा गांधी ने प्रकट किया था। उस समय जवाहरलाल लाहौर में होने वाले कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये थे। तब देश स्वतन्त्र न था। उसी अधिवेशन में पहलेपहल निश्चय हुआ था कि भारत अँगरेजों की अधीनता से पूर्ण स्वतन्त्र होगा। १५ अगस्त सन् १९४७ से भारत सचमुच पूर्ण स्वतन्त्र है। तब से उसके शासन की बागडोर उसी के हाथ में है। सचमुच राष्ट्र उसके हाथ में सुरक्षित है—यह उसके इतने दिनों के शासन सम्बन्धी कामों ने प्रमाणित कर दिया है। आज वह हमारा सबसे अधिक प्यारा नेता है। कोई तिरसठ बरस का बूढ़ा। न तो देखने में ही बूढ़ा और न कामों में ही किसी जवान से कम। मझोला कद। छरहरा बदन। जैसा गोरा तन, वैसा ही उसपर सफेद खादी का परिधान। प्रशस्त ललाट,

तेजपूर्ण आँखें, लम्बी नाक और पतले ओंठ । यह है बूढ़ा नवयुवक जवाहरलाल । स्वतन्त्र भारत का शासन सूत्र उन्हीं ने सभाला और आज वही देश की नाव आँधी पानी के बीच लिये चल रहे हैं। इलाहाबाद मे कश्मीरी पण्डित मोतीलाल नेहरू रहते थे। उनकी पत्नी स्वरूपरानी की गोद में १४ नवम्बर सन् १८८९ का दिन जवाहरलाल को विहँसता हुआ ले आया। पण्डित मोतीलाल नेहरू की आमदनी बहुत अच्छी थी, उन्होंने ऊँची तबीयत पायी थी। जवाहरलाल को सुख सुविधा पहुँचाने में कुछ उठा न रखा। उनके पालन-पोषण के लिए अँगरेज दाई रख दी, पढ़ाने के लिए अँगरेज अध्यापक ; जिससे अँगरेजी सभ्यता के अनुसार रहने में बालक में कोई कसर न रहे। फिर पंद्रह वर्ष के होने पर जवाहरलाल को ले कर उनके पिता इँगलैंड गये । वहाँ हैरो के स्कूल में भरती करा दिया। वहाँ की शिक्षा समाप्त कर केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कालेज में पढ़ने गये। वहाँ से एम० ए० की उपाधि ले कर लन्दन से सन् १९१२ में बैरिस्टरी की परीक्षा दी।

वैभव और विलास के जीवन में रहकर अब २३ वर्ष के जवाहरलाल पूरे साहब बन स्वदेश लौटे । यहाँ आने पर वे इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत करने लगे । इसी बीच सन् १९१६ में उनका विवाह हुआ। सन् १९१७ में उनकी पुत्री इन्दिरा का जन्म हुआ। पत्नी कमला को ले कर जवाहरलाल अपने पिता की प्रचुर सम्पत्ति का भोग न कर सके । उस समय देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति का आन्दोलन कुछ प्रबल हो रहा था । महात्मा गांधी यहाँ की राजनीति के रङ्गमञ्च पर आ चुके थे ।

उनके चम्पारन और खेड़ा के किसान सत्याग्रह जवाहरलाल को कर्मक्षेत्र में उतरने का आवाहन दे रहे थे। अवध के किसानों की दुर्दशा देख कर उनका धैर्य्य छूट गया। उन्होंने आनन्दभवन के मुलायम गद्दे छोड़ दिये। गाँव-गाँव घूम कर किसानों की सच्ची स्थिति अपनी आँखों से देखी। इन्हीं दिनों मोहन ने असहयोग का शङ्ख फूँका। जवाहरलाल ने भी बैरिस्टरी को लात मार उनका अनुगमन किया। सन् १९२१ में इंग्लैंड के युवराज के बहिष्कार में उन्हें ६ महीने की सजा हुई। दूसरी बार सन् १९२२ में १८ महीने की कड़ी कैद हुई। इसके अनन्तर तो जेल मानो उनका घर हो गया। न जाने कितनी बार उन्हें सरकार ने जेल में बन्द किया। अपने जेल-जीवन में उन्होंने अध्ययन करने का अवसर पाया। वहीं उन्होंने 'विश्व इतिहास की झलक' लिखी, 'मेरी कहानी' लिखी और बहुत सी पुस्तकों की रचना की।

सन् १९२६ में अपनी पत्नी कमला की चिकित्सा के लिए वे स्विट्जरलैंड गये। वहाँ सन् १९२७ में साम्राज्य-विरोधी सङ्घ का अधिवेशन हुआ, उसमें वे कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। उनकी ब्रितानवी साम्राज्य के विरोध की भावना और प्रबल हुई। उसी वर्ष वे रूस गये। वहाँ साम्यवादी शासन में देश की उन्नति देख कर बहुत प्रभावित हुए। रूस से लौटने पर वे पुनः कांग्रेस के प्रधान मन्त्री चुने गये। अब वे देश के अग्रगण्य नेता माने जा चुके थे। सन् १९२९ में लाहौर के अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस अधिवेशन ने कांग्रेस का लक्ष्य स्थिर किया कि देश अंग्रेजों से पूर्णतया स्वतन्त्र हो कर

रहेगा। तब से आज पूर्ण स्वतन्त्र हो जाने पर भी २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस का महोत्सव सारे देश में मनाया जाता है। कांग्रेस की बागडोर जवाहरलाल के हाथों में आते ही उत्साह की नयी लहर उठी। सन् १९३० में सत्याग्रह आरम्भ हुआ। धर-पकड़ की धूम मच गयी। पण्डित जवाहरलाल भी जेल भेजे गये। इसी बीच उनकी सहधर्मिणी बहुत बीमार हो गयीं। उन्हें चिकित्सा के लिए योरोप भेजा गया। बाद में उनकी दशा बिगड़ गयी। इसलिए पण्डित जवाहरलाल बीच ही में छोड़ दिये गये। उनके पहुँचने पर कमला उन्हें सदा के लिए छोड़ कर चल बसीं।

उनकी आँखों के आँसू सूख न पाये थे कि देश ने उन्हें फिर पुकारा। सन् १९३६ में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ। उसके वे ही अध्यक्ष चुने गये। अगले साल फिर उन्हीं के हाथ में कांग्रेस का सञ्चालन सूत्र रहा। उन्होंने सारे देश का तूफानी दौरा किया और विधान परिषदों के चुनाव में कांग्रेस को अभूतपूर्व सफलता मिली। सात प्रान्तों का शासन उसके हाथ में आया। सन् १९३८ में वे योरोप गये। वहाँ से लौट कर उन्होंने देशी राज्यों की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की। फिर राष्ट्र के सङ्गठन के लिए वैज्ञानिक योजना बनायी। उसकी पूर्ति के लिए राष्ट्रनिर्माण समिति को जन्म दिया। यह समिति निरन्तर काम करती रही और अब स्वराज्य हो जाने पर इसने पञ्चवर्षीय योजना प्रस्तुत की है। उसके अनुसार देश में उत्पादन और विकास का कार्यक्रम उपस्थित किया गया है। इन्हीं दिनों वे लङ्का और चीन गये। वहाँ उनका सर्वत्र अभिनन्दन किया गया। इसी साल योरोप

में महायुद्ध छिड़ गया। अँगरेजों के साथ उनका अधीन देश भारत भी उसमें सम्मिलित कर लिया गया। कांग्रेस ने इसे स्वीकार न किया। उसके मन्त्रिमंडल शासन से अलग हो गये। देश में फिर नया आन्दोलन होने लगा। पण्डित नेहरू ने त्रितानवी सरकार से आग्रह किया कि भारत को स्वतन्त्र कर दो। उसने न माना तब गांधीजी ने 'भारत छोड़ो' का चिर-स्मरणीय प्रस्ताव देश के सामने घोषित किया। इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य-सञ्चालन करने के पहले ही ९ अगस्त सन् १९४२ को देश भर के नेता पकड़ लिये गये। पं० जवाहरलाल नेहरू को अहमदनगर के किले में बन्द किया गया। वहाँ अवकाश पा कर उन्होंने हिन्दुस्तान की कहानी नाम से अँगरेजी में महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी।

उधर युद्ध में अँगरेजों का पाँसा पलट रहा था। इससे सन् १९४५ में पण्डित जवाहर लाल और अन्य नेता छोड़ दिये गये। इन्हीं दिनों दिल्ली में आजाद हिन्द फौज के कुछ विशिष्ट अफसरों के ऊपर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। उस समय सन् १९४२ के भीषण अत्याचारों से जनता दब गयी थी। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने उक्त मुकदमे की पैरवी करने का निश्चय किया। फल यह हुआ कि देश को फिर बल मिला। लोगों ने अपने नेता की पुकार सुनी। सबने फिर खुल कर कांग्रेस का समर्थन किया। अँगरेजों ने समझा था कि इस दमन के बाद बहुत दिनों तक भारतवासी सिर न उठा सकेंगे। किन्तु अपने नेताओं को पाते ही वे अत्याचार और गोलियों की वेदना भूल गये एवं स्वतन्त्रता के मार्ग में दूने उत्साह से अग्रसर हुए। इसी

बीच विधान-सभाओं के नये चुनाव हुए। सिन्ध और बंगाल में मुस्लिमलीगी मन्त्रिमण्डल बने। पञ्जाब में संयुक्त दलों का सम्मिलित शासन हुआ। इन मुस्लिम-बहुल प्रान्तों के अतिरिक्त सीमा प्रान्त में भी मुसलमानों की संख्या अधिक थी किन्तु वहाँ और शेष सभी प्रान्तों में कांग्रेस की विजय हुई और उसी के हाथ में शासन-सत्ता आयी। कांग्रेस का यह प्रभाव देख अँगरेज घबरा उठे। उन्होंने समझौते की चेष्टा आरम्भ की। वे जानते थे कि अब एक न एक दिन भारत छोड़ना ही पड़ेगा। अच्छा होगा कि मेल मिलाप बनाये रख कर ऐसा किया जाय। इस प्रकार भारत का उपयोग आगे चल कर अपने हित के लिए किया जा सकेगा। ब्रितानवी मन्त्रिमण्डल के कुछ प्रतिनिधि भारत आये। उन्होंने साम्प्रदायिक आधार पर देश को राजशक्ति देने प्रस्ताव किया। समझौता न हो सका। अन्त में उन्होंने जो निर्णय किया उसे मुस्लिम लीग ने तो मान लिया परन्तु कांग्रेस कार्य-समिति ने स्वीकार न किया। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के सम्बन्ध में भी कांग्रेस ने मन्त्रियों के प्रस्ताव को न माना। आगे चल कर जब उन्होंने कुछ छोटी मोटी माँगों को वायसराय से स्वीकार करा लिया तब मुस्लिम लीग पीछे हट गयी। इस प्रकार जिन दो प्रमुख दलों के बीच समझौता होने से अँगरेज देश को छोड़ने के लिए तैयार थे उनमें मेल न हो सका। परन्तु अगस्त सन् १९४६ में कांग्रेस ने मन्त्रियों के प्रतिनिधि-मण्डल की योजना को स्वीकार कर लिया। पण्डित जवाहरलाल नेहरू उसकी ओर से केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल बनाने को प्रस्तुत हो

गये। वे २ सितम्बर सन् १९४६ को अस्थायी शासन के प्रधान मन्त्री बने। लीग ने इसके पहले ही घोषित कर दिया था कि केन्द्र में अकेले कांग्रेस की सरकार बनी तो हम देश में प्रत्यक्ष प्रहार आरम्भ कर देंगे। पण्डित जवाहरलाल ने समझा था कि यह कोरी धमकी है इसलिए उन्होंने मुसलिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना से अपने मन्त्रिमण्डल में मुसलिम लीग के प्रतिनिधियों को भेजने का अनुरोध किया। परन्तु मुसलिम लीग भीतर से पक्की तैयारी कर चुकी थी। १६ अगस्त को कलकत्ते में लूटमार, बलात्कार, भस्मीकरण आरम्भ हो गया। इसी नर-संहार और विध्वंस के प्रारम्भ के कुछ दिन बाद ही केन्द्र में ऊपर लिखे अनुसार जवाहरलाल ने शासन सँभाला। उधर अक्टूबर में पूर्वी बंगाल के नोआखाली और कुमिल्ला जिलों में हिन्दू जनता का संहार होने लगा। १५ अक्टूबर को मुसलिम लीग के प्रतिनिधि किसी प्रकार नेहरू मन्त्रिमण्डल में आ तो गये परन्तु उन्होंने उनको अभीष्ट सहयोग न दिया। इतना ही नहीं वे दंगे उभाड़ते रहे। पूर्वी बंगाल से भगायी हुई हिन्दू स्त्रियाँ जब विहार में देखी गयीं तब तो वहाँ भी आग लग गयी।

बड़ी कठिनाई के ये दिन थे नेहरू के। शासन हाथ में लेते ही साम्प्रदायिकता का यह नग्न ताण्डव। सिर मुड़ाते ही ओले। कांग्रेसी नेता अपने निश्चय से विचलित हो गये। उन्होंने कोई भी मूल्य चुका कर यह विषम स्थिति सँभालना उचित समझा। इसी समय माउंटबेटन वायसराय बन कर भारत आया। उसने आते ही कांग्रेस से कहा कि मुसलिमलीग की माँग के अनुसार

भारत का विभाजन मान लेने पर अँगरेज तुरन्त अधिकार छोड़ देंगे । वंगाल और विहार के हत्याकाण्डों की आवृत्ति अन्यत्र न हो इससे कांग्रेस ने समूचे देश और मुसलिमलीग ने पंजाव तथा वंगाल का विभाजन मान लिया। उस समय महात्मा गांधी वंगाल में साम्प्रदायिक विषमता दूर करने में लगे थे । उन्हें इस विभाजन की सूचना मिली । वे सुनते ही वोल उठे—सर्वनाश हो गया। परन्तु जो हो चुका था उसे वे भी वदल न सके । देश वँट गया । १५ अगस्त सन् १९४७ को खण्डित भारत स्वतन्त्र हुआ। जवाहरलाल उसके प्रधानमन्त्री हुए। उन्होंने पश्चिमी पंजाव और पूर्वी वंगाल के हिन्दुओ को सलाह दी कि अपना घर न छोड़ो। वे वर्षों से उनकी वात मानते आ रहे थे। इसी अभ्यास से वे अपने-अपने घर, गाँव और नगर में जमे रहे। परन्तु जव देश १५ अगस्त को उदासी के साथ स्वतन्त्र होने का उत्सव मना रहा था, तव पच्छिमी पंजाव में असहाय हिन्दुओं पर गुण्डों का विनाशकारी ताण्डव हो रहा था । उससे घवड़ा कर वे लोग जैसे-तैसे अपने प्राण वचाने के लिए भारत की ओर भाग चले । उनके आर्त्तनाद सुन कर दिल्ली में भीषण प्रतिक्रिया हुई । वहाँ नेहरू सरकार की आँखों तले ही साम्प्रदायिक दंगा होने लगा। महात्मा गांधी ने अपने प्राणों की वाजी लगा कर उसे शान्त करने की चेष्टा की । नेहरूजी को करोड़ों विस्थापित हिन्दुओं और सिक्खों के निवास और भरण-पोषण का प्रवन्ध करना पड़ा । उन्होंने दिन रात एक करके जैसे तैसे उन विविध उलझनों को सुलझाया जो विभाजन के परिणाम स्वरूप सामने आ गयी थीं।

कुछ दिनों के अनन्तर पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं को भी वहाँ से भागना पड़ा। लाखों शरणार्थी पूर्वी भारत में आ पहुँचे। बड़ी कठिनाई से वरसों पीछे उनको किसी प्रकार बसाया गया। अब भी पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान से आये हुए लोगों की कठिनाइयाँ पूर्णतया दूर नहीं की जा सकीं। अपने उपप्रधानमन्त्री सरदार वल्लभभाई पटेल के असाधारण कौशल के द्वारा पण्डितजी ने देशी राज्यों को भारतसङ्घ में विलीन कर लिया। किन्तु अब तक कश्मीर की समस्या उनको चैन नहीं लेने देती। ऐसे ही, महायुद्ध के बाद अन्न-वस्त्र की कठिनाई भी देश की बड़ी विषम पहेली है। इन सब कठिनाइयों को झेलते हुए उन्होंने सन् १९४७ से १९५० तक अथक परिश्रम करके स्वतन्त्र भारत का संविधान प्रस्तुत कराया और २६ जनवरी सन् १९५० को सार्वभौम संघ की घोषणा की।

भारतीयों के बनाये हुए इस संविधान में प्रत्येक वयस्क को मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ। तदनुसार सन् १९५२ के आरम्भ में विधान सभाओं और संसद के लिए निर्वाचन हुए। वयस्क मताधिकार का इतना बड़ा निर्वाचन अब तक कहीं नहीं हुआ था। नेहरू शासन ने इसकी सुव्यवस्था करके संसार को चकित कर दिया है। इसी से उन्हें ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर पहले निर्वाचन में विजयी कांग्रेस दल का नेता चुना गया है। वे हमारे राष्ट्र के प्रधान मन्त्री हैं। वे विश्व के प्रमुख व्यक्तियों में गिने जाते हैं। उनके व्यक्तित्व में ऐसा जादू है जो सबको मोह लेता है। आज वे हमारी आशा के केन्द्र हैं। नहीं, विश्व के सभी दलित राष्ट्रों की आँखें उन पर लगी हैं। वे विश्व की विभूति हैं।

अमर सेनानी नेताजी

"यदि जीवन चाहते हो तो जीवन देने को प्रस्तुत रहना पड़ेगा।" वह सचमुच अपना जीवन दे कर जीवित है, युग-युग तक जीवित रहेगा। सन् १८५७ में देश से अँगरेजों को निकाल वाहर करने के लिए पहली वार हिन्दू-मुसलमान मिले थे। उन्होंने एक साथ हथियार उठाये थे। यह सङ्ग्राम देश के भीतर से किया गया था। १९४२-४३ में एक वार फिर उन्होने कन्धे से कन्धा मिला कर अँगरेजों के ऊपर वन्दूकें तानीं। इस वार उन्होंने देश के वाहर से चढ़ाई की। इस अभियान के सेनानी का ही उक्त जीवन-मन्त्र था।

उसने सन् १८९७ की तेइसवीं जनवरी को पहलेपहल सूर्य का आलोक देखा था। उड़ीसा प्रदेश के कटक नगर में जानकीनाथ वसु रहते थे। वे सम्पन्न और प्रतिष्ठित वकील थे। उनकी सहधर्मिणी प्रभावती देवी वड़ी ही धर्मनिष्ठ, सरल और सहृदय थीं। इसी वसु दम्पति के घर उस दिन सुभाषचन्द्र की प्रभा जगमगायी। सन् १९१३ की मैट्रिकुलेशन परीक्षा में कलकत्ता विश्वविद्यालय में द्वितीय हुए। उनके कालेज का एक अँगरेज अध्यापक भारतीयों से घृणा करता था। उसके अपमानजनक व्यवहार से उत्तेजित हो कर छात्रों ने सुभाष के नेतृत्व में उसकी खूब मरम्मत की। फलस्वरूप वे कालेज से निकाल दिये गये। कुछ दिन पीछे सन् १९१९ में वे प्रथम श्रेणी में वी० ए० हो गये। पिता

ने सुभाष को लन्दन भेजा। उनकी इच्छा थी कि वह आई० सी० एस० की परीक्षा में सफल हो कर उच्च राज-कर्मचारी बनें। परन्तु सुभाष तो कुछ और ही करने को जन्मे थे। वे सन् १९२० में उक्त परीक्षा में सफल हुए। किन्तु इससे उनको कोई हर्ष न हुआ, उलटे नयी उलझन में फँस जाना पड़ा। उन्होंने अपने किसी मित्र को लिखा—तुम्हें यह जान कर खेद होगा कि मैं दुर्भाग्य से आई० सी० एस० परीक्षा में सफल हो गया हूँ। किन्तु कह नहीं सकता कि मैं अफसर बनूँगा कि नहीं। मुझे तो लगता है कि मैं अपने देश और ब्रितानवी साम्राज्य की सेवा एक साथ नहीं कर सकता। शीघ्र ही मुझे इनमें किसी एक को लेना पड़ेगा। और उन्होंने मखमली गद्दे को ठुकराकर काँटों का ताज पहनना स्वीकार किया। जब वे विलायत गये थे तब देश में रौलट ऐक्ट और जलियाँवाला काण्ड के फलस्वरूप भीषण धर पकड़ और दमन हो चुका था। अब वे स्वदेश लौटे। तब देश में असहयोग आन्दोलन हो रहा था। बम्बई पहुँचते ही सुभाष वसु सीधे महात्मा गांधी के पास गये। उनसे उन्होंने असहयोग के सिद्धान्त और सञ्चालन के सम्बन्ध में बड़ी देर तक बातें कीं। वे गांधीजी के महान व्यक्तित्व के सामने अपना अस्तित्व न भूले। उन्होंने कहा कि असहयोग मेरी समझ में आता है किन्तु मैं नहीं समझ पाता कि यह अहिंसा क्या है। सुभाष सोचने लगे कि अब क्या करूँ। उन्हें जो निराशा और अस्पष्टता थी वह कुछ ही दिनों में देश-बन्धु चित्तरञ्जनदास ने दूर कर दी। उनसे मिलने के अनन्तर सुभाषचन्द्र ने अनुभव किया कि मुझे नेता मिल गया है। देश-

बन्धु दास राजनीति में उनके गुरु हुए। उन्होंने असहयोग करने वाले विद्यार्थियों के लिए कलकत्ता में राष्ट्रीय महाविद्यालय स्थापित किया था। सुभाष बाबू को उसी का आचार्य बना दिया। उन्होंने बड़े परिश्रम से युवकों के शारीरिक मानसिक और बौद्धिक विकास का सुप्रबन्ध किया। यहीं उन्होंने स्वयंसेवक दल की स्थापना की। इंगलैंड के युवराज ने जब २५ दिसम्बर सन् १९२१ को कलकत्ते में प्रवेश किया तब वहाँ की जनशून्य सड़कों ने उसकी अभ्यर्थना की। ऐसे सफल बहिष्कार की योजना के पुरस्कार में सुभाषचन्द्र को छः महीने के कारावास का दण्ड मिला। जेल से निकलते ही उन्होंने बंगाल को भीषण बाढ़ में ग्रस्त देखा। उन्होंने चट स्वयंसेवकों का दल बनाया और बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए चार लाख रुपये एकत्र किये। उनकी कार्य-प्रणाली और सङ्गठन देख कर बड़े बूढ़े भी दङ्ग रह गये।

सन् २२ में कांग्रेस के नेताओं में विधान सभाओं को ले कर तीव्र मतभेद हो गया। कुछ लोग उनमें जाने को देशहित के लिए उचित नहीं समझते थे। उनके अगुवा थे महात्मा गांधी। उधर पण्डित मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु दास उनका उपयोग करना उचित समझते थे। वे उनमें प्रवेश करके और विधान के भीतर रह कर अँगरेजों की शक्ति कुण्ठित कर देना चाहते थे। अतएव अपने बहुत से साथियों और अनुयायियों को ले कर वे कांग्रेस से अलग हो गये। उन्होंने स्वराज्य दल स्थापित किया। कर्मवीर सुभाष को उसका प्रधान मन्त्री और उसके मुखपत्र दैनिक फारवर्ड का सम्पादक बनाया। नवयुवक सुभाष के निरन्तर परिश्रम और

चातुर्य से इस नवीन राजनैतिक दल को आशातीत सफलता मिली। इसी बीच उन्हें क्रान्तिकारी कह कर पकड़ लिया गया। २५ अक्टूबर सन् १९२४ को उन्हें फिर जेल भेज दिया गया। कुछ दिनों बाद उन्हें मंदले भेज दिया गया। उसी कारागार में लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय बंदी रह चुके थे। वहाँ युवक सुभाष का स्वास्थ्य बिगड़ गया। बहुत अधिक रुग्ण हो जाने पर सरकार ने उन्हें १६ मई सन् १९२७ को छोड़ दिया।

बाहर आने पर उन्होंने कुछ दिनों में स्वास्थ्य लाभ किया। फिर कांग्रेस के रचनात्मक कार्य में हाथ लगाया। विद्यार्थियों के युवक दल सङ्गठित किये। इसी बीच वे कांग्रेस के प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए। कुछ कांग्रेसी नेता औपनवेशिक स्वराज्य के पक्ष में थे, परन्तु सुभाषचन्द्र बसु और जवाहरलाल नेहरू ने उसका विरोध किया। पहले तो उनकी बातें न सुनी गयीं। किन्तु साल भर के भीतर, दिसम्बर सन् १९२९ में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन ने घोषित किया कि पूर्ण स्वराज्य हमारा लक्ष्य है। अगले वर्ष की २६ जनवरी को सारे देश ने पहले पहल स्वतन्त्रता दिवस मनाया। उस समय सुभाष कलकत्ते के अलीपुर जेल में बन्द थे। उन्होंने वहीं राष्ट्रीय झण्डा फहरा कर कारागार के अधिकारियों को चकित कर दिया। दिसम्बर सन् ३० में वे जेल से छूटे। यद्यपि महात्मा गांधी की नीति वे पूर्णरूप से स्वीकार नहीं करते थे फिर भी उनके द्वारा प्रवर्तित आन्दोलनों में सदा सम्मिलित होते रहे। इस समय नमक सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा का चरम उत्कर्ष था। सुभाषचन्द्र ऐसे अवसर पर कब

चूक सकते थे। वे शीघ्र ही फिर जेल में बन्द कर दिये गये। कुछ दिनों में गांधी-अरविन समझौता हो गया। आन्दोलन स्थगित हो गया। लन्दन में समझौते की सभा हुई, उसमें कुछ हाथ न लगा। इसी बीच प्रसिद्ध क्रान्तिकारी भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को लाहौर में फाँसी हो गयी। गांधी जी ने बहुतेरा प्रयास किया किन्तु इन वीरों के प्राण न बचा सके। सुभाष ने गांधी की नीति की खुल कर निन्दा की, परन्तु जब आन्दोलन छिड़ा तब फिर उसमें पूरी शक्ति के साथ योग दिया। इस बार उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। इससे फरवरी सन् १९३३ में उन्हें चिकित्सा कराने के लिए योरोप जाने को छोड़ दिया गया। वहाँ पहुँच कर वे शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। बीच में पिता की मृत्यु हो जाने पर वे भारत आये और पिता का श्राद्ध कर फिर योरोप लौट गये। प्रवास काल में उन्होने भारतीय स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में विविध प्रयास किये। उनको स्वदेश लौटने की आज्ञा न थी, इसके विरोध में वे अप्रैल सन् १९३६ मे आते ही बम्बई मे पकड़ लिये गये। इस कारावास के समय भी उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। जनता को उनके सम्बन्ध में बड़ी चिन्ता हुई। वे मार्च सन् १९३७ मे फिर छोड़ दिये गये और योरोप गये। इँगलैंड में भारतीयों ने उनका बड़ा स्वागत किया। इसी बीच वे सन् १९३८ के हरिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। गाँव में होने वाले इस महासम्मेलन की बड़ी धूम रही। सुभाष बाबू ने जो भाषण दिया, उसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का विशेष रूप से स्पष्टीकरण था और नये विचारों के द्वारा राष्ट्रीय समस्याओं के

सुलझाने की चेष्टा की गयी थी। उस समय सरकार भारतीय प्रान्तों और राज्यों का सङ्घ बनाना चाहती थी। सभी वयोवृद्ध नेता इसका समर्थन करते थे, किन्तु सुभाष ब्रितानवी साम्राज्यवाद से समझौता करने को प्रस्तुत न थे। इससे महात्मा गांधी उनके विरुद्ध हो गये। साल भर कांग्रेस के भीतर खींचतान चलती रही। फिर भी देश में सुभाषचन्द्र की लोकप्रियता कम न हुई। वे दूसरे साल फिर कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए परन्तु महात्मा गांधी से समझौता न कर सके। इसलिए अपने साथ बहुमत होते हुए भी कांग्रेस छोड़ने के लिए विवश हुए।

कांग्रेस छोड़ कर के वे चुप न बैठे। उन्होंने प्रगतिशील नवयुवकों का सङ्गठन कर अग्रगामी दल (फारवर्ड ब्लाक) बनाया। इन दिनों योरोप में महायुद्ध छिड़ गया था। सुभाष बसु से सरकार घबराती तो थी ही। उन्हें पकड़ने के लिए अवसर के ताक में रहती थी। संयोग से कलकत्ते में एक अँगरेज की आकृति को उस स्थान से हटाने का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जहाँ वह खड़ी की गयी थी। सुभाषचन्द्र फिर सरकार के अतिथि हुए। योरोप के युद्ध में अँगरेजों के फँस जाने के कारण देश को उनसे स्वतन्त्र कराने का यह बड़ा अच्छा अवसर था। कारागार के भीतर बन्द रह कर इसे गवाँना उचित न था। इसलिए स्वास्थ्य बिगड़ने पर सुभाषचन्द्र ने सरकार से अपने छोड़े जाने की माँग की। भला वह कब स्वीकृत हो सकती थी। इसलिए उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। उन्होंने बंगाल के गवर्नर को लिखा—इस नश्वर संसार में प्रत्येक वस्तु विनष्ट होती है और

होगी, परन्तु विचारों, उद्देश्यों और योजनाओं (स्वप्नों) का विनाश नहीं होता। कोई व्यक्ति अपने किसी विचार के लिए मर सकता है परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् वह विचार सहस्रों जीवन धारण करता है। किसी व्यक्ति को इसलिए मरना चाहिए कि जाति (राष्ट्र) जी सके। आज मुझे मरना चाहिए। जिससे भारत जीवित हो और स्वतन्त्रता तथा सम्मान पा सके। इस दृढ निश्चय के सामने सरकार झुक गयी। सुभाष बाबू छोड़ दिये गये, परन्तु उन्हें अपने घर के भीतर ही बन्द रहने का आदेश मिला। कुछ दिन वे रोगी बने रहे। फिर उन्होंने संसार से विरक्ति प्रकट करनी आरम्भ कर दी। पीछे उन्होंने मौन व्रत ले लिया। लोगों से मिलना-जुलना बन्द कर दिया। दाढ़ी-मूँछ बढ़ा ली। घर के बाहर पहरे पर बैठे पुलिस वाले समझते कि सुभाष बाबू की लड़कपन वाली धर्म-वृत्ति फिर उभड़ी है। इतने में सन् १९४१ की २६ जनवरी आ पहुँची। देश स्वाधीनता दिवस के उत्सव मनाने में मग्न था। उधर सरकारी क्षेत्रों में उद्विग्नता फैल गयी—सुभाषचन्द्र घर में नहीं हैं। बहुत दिनों तक किसी ने न जाना कि वे कैसे लुप्त हुए, कहाँ गये और क्या कर रहे हैं। जब बर्लिन से स्वतन्त्र भारत के प्रवक्ता के रूप में उन्होंने देश को अपना संदेश सुनाया तब ब्रितानवी सत्ता चौंक पड़ी। पीछे विदित हुआ कि सुभाषचन्द्र ने दाढ़ी बढ़ाकर मुसलमान मौलवी का छद्मवेश बनाया था। घर से मोटरकार में निकले और बर्धमान स्टेशन से रेलगाड़ी पर सवार हुए। फिर दिल्ली होते हुए काबुल पहुँचे। वहाँ से मास्को। फिर बर्लिन। बर्लिन में हिटलर

ने उनका स्वागत किया। वहाँ के भारतीयों को ले कर सुभाषचन्द्र ने देश की स्वतन्त्रता के लिए सङ्गठन किया। इधर जापान भी युद्ध में कूद पड़ा। उसने हिन्द चीन और हिन्दी द्वीप समूह, मलाया सिंगापुर आदि को जीत लिया। फिर बर्मा जीतने पर बहुत से भारतीय सैनिक उसके बन्दी हुए।

जापान में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी देशभक्त रासबिहारी बसु बहुत दिनों से भारतीय क्रान्ति की साधना कर रहे थे। पहले विश्व युद्ध के समय उन्होंने वहाँ स्वतन्त्र भारत सङ्घ की स्थापना की थी। दूसरे महायुद्ध में जब जापान आ कूदा तब रासबिहारी ने वहाँ के शासकों से कहा कि जिन देशों पर जापान का अधिकार हो जाय वहाँ के भारतीयों को शत्रु न मान कर मित्र स्वीकार किया जाय। उन लोगों को स्वतंत्र भारत सेना (आजाद हिन्द फौज) बनाने की सुविधा दी जाय। इस फौज में वे भारतीय सैनिक भी भरती किये जायँ जो अँगरेजों की ओर से लड़ते हुए बन्दी हो गये हों। इस प्रस्ताव के स्वीकार हो जाने पर आजाद हिन्द फौज का सङ्गठन हुआ। इस समय रासबिहारी की वय ढल चली थी। उन्हें देश के बाहर रहते हुए २७ वर्ष हो चुके थे। अतएव उन्हें इस सेना के सञ्चालन के लिए योग्य और कर्मठ नेता की आवश्यकता जान पड़ी। उन्होंने सुभाषचन्द्र को जर्मनी से बुलाया। वे अपनी जान हथेली में ले कर पनडुब्बी से पिनाङ्ग पहुँचे। रासबिहारी ने उन्हें स्वतन्त्र भारत सङ्घ का नेता घोषित किया। अब वे नेताजी नाम से विख्यात हुए। २१ अक्टूबर सन् १९४३ को सिंहपुर (सिंगापुर) में स्वतन्त्र भारत सङ्घ का विराट्

-सम्मेलन हुआ। वहाँ आजाद हिन्द सरकार की स्थापना हुई। नेताजी उसके प्रमुख निर्वाचित हुए। चार दिन बाद आजाद हिन्द सरकार ने ब्रितानिया और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। इधर सन् ४३ मे बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। आजाद हिन्द सरकार की ओर से नेताजी ने बर्मा और स्याम का चावल भेज कर स्वदेश-वासियों के प्राण बचाने का प्रस्ताव किया किन्तु अँगरेजी सरकार ने उसे न माना। आजाद हिन्द फौज के प्रधान सेनापति ने उसका युद्ध-घोष निश्चित किया—'जय हिन्द'। उस सेना का लक्ष्य हुआ—'दिल्ली चलो'। अब आजाद हिन्द फौज ने भारत पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। नेताजी ने बर्मा के जापानी सेनापति से इस आक्रमण के पूर्व ही कुछ समझौता करना उचित समझा। आक्रमण तो जापानी सेना और आजाद हिन्द फौज दोनों करेंगी, किन्तु जीते हुए देश पर भारतीय सेना का आधिपत्य होगा। वहाँ तिरंगा फहरायगा और मेजर जनरल अनिल चटर्जी शासन करेंगे। यह भी निश्चय हुआ कि यदि कोई सैनिक भारत की भूमि पर लूटमार या बलात्कार करेगा तो उसे तत्काल गोली मार दी जायगी। इस प्रकार मार्च सन् '४४ में आजाद हिन्द सेना ने जापानी सेना के साथ मणिपुर पर आक्रमण कर दिया। उसने इम्फाल और कोहिमा में तिरंगा गाड़ दिया। इस आक्रमण में यह सेना बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए आगे बढ़ी थी। बहुधा जङ्गल की घास खा कर सैनिकों ने मोर्चा लिया था। अपने खाने-पीने की वस्तुओं और युद्ध की सामग्रियों को उन्होंने सिर पर ही ढोया था। इम्फाल में चार

महीने तक आजाद हिन्द सेना का घेरा पड़ा रहा। अँगरेजों ने भी पूरी शक्ति लगा कर उसका सामना किया। इतने में बरसात आगयी तब उसे हटना पड़ा। वर्षा में सड़कें बह गयी थीं, पास में रसद न थी। कीचड़, मच्छर और मक्खियों के भरे जङ्गलों से होकर जाना था। ऊपर से शत्रु के विमानों की मार पड़ रही थी। ज्वर, पेचिश और घावों से पीडित आजाद हिन्द फौज के दस्ते लौट रहे थे। शत्रु के विमानों से परचे गिरते। उनमें लिखा था—हथियार डाल दो। परन्तु वे वीर अपने नेताजी के आदर्श से न डिगे।

युद्ध के मोर्चे पर सेना भेजने के बाद नेताजी उसके लिए आवश्यक व्यय और सामग्री जुटाने में लगे। उन्होंने आजाद हिन्द सरकार को सब प्रकार से परिपुष्ट करने का कार्य आरम्भ किया। उनकी पुकार सुन कर कितने ही भारतीयों ने अपना सब कुछ देश के लिए अर्पित कर दिया। सेठ हबीब ने करोड़ से अधिक की अपनी सारी सम्पत्ति दे दी थी। सितम्बर सन् १९४४ में नेताजी अपनी लौटती सेना से पेगू में मिले। उस समय भी सेना में पूरा उत्साह था। आगे चल कर इरावती के निचले घुमाव में पोपा पहाड़ी पर युद्ध हुआ। परन्तु तब तक अँगरेजों की सेना का सङ्गठन पूरा हो चुका था। आकाश पर उनका पूरा राज्य था। उनकी सेना दिन में विमानों, तोपों और टैंकों के सहारे आगे बढ़ती और रात में कँटीले तारों से घिर कर अपनी रक्षा करती। उधर जापानी और आजाद हिन्द सेना दिन में खेतों और जङ्गलों में छिपती तथा रात में रोशनी के बिना आगे बढ़ती। अपने पास बचे साधारण अस्त्र-शस्त्र से शत्रु पर आक्रमण करती।

अब बराबर वालों की लड़ाई न रह गयी थी। फिर भी नेताजी बराबर उसकी देखरेख करते रहे। उनका कहना था कि इस लड़ाई का अभिप्राय यह है—आजाद हिन्द फौज के शहीद अपनी वीरता की ऐसी कहानी और परम्परा छोड़ जायँ जिसपर आने वाली पीढ़ियाँ अभिमान कर सकें। मित्थिला (मिकतिला) से सौ मील दक्षिण जब आजाद हिन्द फौज के सैनिक बुरी तरह घिर गये तब नेताजी को उक्त अभिलाषा प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ी। कुछ दस्ते शत्रु की पाँतों को काटते निकल गये, कुछ ने वीर-गति प्राप्त की और कुछ ने अन्तिम गोली चुकने तक लड़ कर इसलिए हथियार रखे कि आजाद हिन्द फौज की कहानी भारत पहुँच जाय।

इस प्रकार युद्ध में पाँसा पलट चुका था। जापानियों के पैर अब न जम सके। उन्होंने अप्रैल सन् '४५ रंगून छोड़ दिया। तब नेताजी ने भी रंगून से जाने का निश्चय किया। वे छः सौ सैनिकों के जत्थे को साथ ले कर २४ अप्रैल की रात को वहाँ से निकल पड़े। सिताङ नदी के पहले ही उनकी सब सवारियाँ शत्रु विमानों ने नष्ट कर दीं। तब मोलम्यैं तक वे पैदल गये। रंगून छोड़ते समय उन्होंने घोषित किया था—हम अपनी लड़ाई के पहले दौर में हार गये हैं। अभी हमें कई दौरों में लड़ना है। इस उद्देश्य से वे बङ्कोक और मलाया में वहाँ की आजाद हिन्द फौज का सङ्घटन करते रहे। इसी बीच ७ मई सन् १९४५ को जर्मनों ने हथियार रख दिये परन्तु प्रशान्त के एक एक टापू में जापानी जम कर लड़ते रहे। इतने में ५ और ९ अगस्त सन् १९४५ को अमरीकियों

ने परमाणु बम फेंक कर जापान के दो नगर हिरोशिमा और नागासाकी मिट्टी में मिला दिये। तब घबरा कर १५ अगस्त को जापान ने हथियार डाल दिये। अगले दिन नेताजी सिंगापुर से बङ्कोक गये। वहाँ से १८ ता० वे विमान को टोकियो जा रहे थे कि दुर्घटना हुई और कहा गया कि हवाई जहाज में आग लग जाने से तैवान (फारमोसा) द्वीप में उनकी मृत्यु हो गयी। इधर कुछ दिन हुए नेताजी की मृत्यु का समर्थन फिर से प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने संसद में किया था। उन्होंने बतलाया था कि नेताजी के फूल जापान में अब भी सुरक्षित हैं। परन्तु नेताजी के बहुत से अनुयायी अब भी समझते हैं कि नेताजी जीवित हैं और वे उपयुक्त अवसर आने पर प्रकट होंगे।

चाहे नेताजी का शरीर छूट गया हो अथवा बना हो किन्तु उनका यश सदा बना रहेगा। वे भारत के उन युगान्तरकारी महा-पुरुषों में हैं जिन्होंने अपने सुख की किंचित् चिन्ता नहीं की। वे सदा विपत्तियों का सामना करते हुए भी अपने ध्येय से विचलित नहीं हुए। परिस्थितियों ने उनका पूरा साथ नहीं दिया। देश के नेताओं ने उनकी नीति अपनायी होती तो सम्भव है आज़ाद हिन्द फौज का इतिहास कुछ और ही होता। जब बाहर से उन्होंने शत्रु पर चढ़ाई की थी उसी समय यदि भीतर से भी विद्रोह हो जाता तो स्वतन्त्रता की प्राप्ति कई वर्ष पहले हो जाती और तब, सम्भव है, देश का बँटवारा हुए बिना ही लाल क़िले पर तिरंगा फहरा उठा होता। जो हो, आज हमारे बीच विद्यमान न होते हुए भी, नेताजी के समान कोई दूसरा लोकप्रिय नेता नहीं है।

अमर शहीद भगतसिंह

इनकलाब जिन्दाबाद। साम्राज्यवाद का नाश हो। ८ अप्रैल सन् १९२९। देहली मे केन्द्रीय एसेंबली का भवन। 'पबलिक सेफ्टी बिल' के सम्बन्ध में गर्मागरम वादविवाद हो चुका है। वातावरण क्षुब्ध है। अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल विवादास्पद उलझन के सम्बन्ध में अपना निर्णय सुनाने खड़े ही हुए कि अकस्मात् बम का धड़ाका हुआ। लोग बम-बम चिल्लाते हुए भागने लगे। कुछ चोट से घायल। कुछ भय से अचेत। इतने में फिर दूसरा धड़ाका। और दर्शकों के बैठने के स्थान से सुनायी पड़ा—इनकलाब जिन्दाबाद—साम्राज्यवाद का नाश हो।

इसके बहुत दिनों पहले सुनायी पड़ा था—वन्दे मातरम्। वन्दे मातरम् कहते हुए न जाने कितने युवक फाँसी के तख्ते पर हँसते-हँसते झूल चुके थे। इसके बहुत दिन बाद सुनायी पड़ा—जय हिन्द। समवेत स्वर से जय हिन्द का घोष आकाश को चीरता हुआ उठा। उसे सुन कर साम्राज्यवादी अँगरेज काँप उठे। जय हिन्द कहते हुए अगणित भारतीयों ने शत्रुओं के प्राण लिये। जय हिन्द कहते हुए असङ्ख्य योद्धाओं ने शत्रु की गोलियाँ अपनी छाती पर लीं। ऐसे ही इनकलाब जिन्दाबाद कहते हुए कितने ही युवकों ने स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राणों की बलि चढ़ायी। यह नारा पहलेपहल उक्त परिस्थिति मे एसेंबली के भवन में गूँजा था। फिर इसकी प्रतिध्वनि कारागार

की ऊँची-ऊँची दीवारों के भीतर सुनायी पड़ी। संगीनों से घिरी कचहरियों में उठी और सारे देश में व्याप्त हुई। भगतसिंह के मुख से पहले पहल यह जयघोष आज भी भारत के स्वतन्त्र आकाश में गूँज रहा है। सिर पर कफन बाँध कर मौत की हँसी उड़ाते हुए उसने क्रान्ति के सिद्धान्तों को व्यापक बनाने के लिए ऊपर लिखे नये ढंग से उस दिन प्रचार आरम्भ किया था। वे बम किसी को मारने के लिए नहीं फेंके गये थे। जहाँ कोई सदस्य नहीं बैठा था, वहाँ खाली स्थान देख कर वे ऊपर से फेंके गये थे।

उनको फेंकने वाला वीर भगतसिंह जन्म से ही क्रान्तिकारी था। उसके पितामह अर्जुनसिंह विख्यात क्रान्तिकारी सूफी अम्बाप्रसाद के घनिष्ठ मित्र थे। उनके पुत्र किशनसिंह, अजीतसिंह और सुवरनसिंह भी स्वतन्त्रता के पुजारी थे। ये तीनों भाई राजद्रोह के अपराध में अँगरेजों के कोप-भाजन बने थे। सरदार अजीतसिंह पंजाव केसरी लाला लाजपतराय के साथी और सहकर्मी थे। उन्होंने बंगभंग के समय, सन् १९०४-५ में, पंजाब को राष्ट्रीयता के रंग में रंग दिया था। 'पगड़ी सँभाल जट्टा' उन्हीं का प्रसिद्ध गीत था। सन् १९०७ में लाला लाजपतराय के साथ उन्हें भी मंदले (वर्मा) के कारागार में निर्वासित किया गया था। उनके बड़े और छोटे भाई किशनसिंह एवं सुवरनसिंह भी राजविद्रोह फैलाने वाले व्याख्यानों के अपराध में दण्डित हुए थे। सरदार सुवरनसिंह की मृत्यु भी २८ वर्ष की वय में जेल में ही हो गयी थी। ऐसे देशभक्तों के परिवार में भगतसिंह का जन्म आश्विन शुक्ला त्रयोदशी संवत् १९६४ (अक्टूबर १९०७) को प्रातःकाल

९ बजे हुआ। वे सरदार किशनसिंह के दूसरे पुत्र थे। उनके जन्म के दिन ही सरदार किशनसिंह नेपाल से लौटे थे और उसी दिन मंदले से सरदार अजीतसिंह के छूटने का समाचार घरवालों को मिला था। इस प्रकार एक साथ कई सुखद बातों से प्रसन्न हो कर बच्चों की दादी उसे भागवाला (भाग्यवान) कह कर पुकारने लगी। बाद में वह भगतसिंह नाम से अमर हुआ। प्रारम्भ में भगतसिंह बंगा गाँव के प्राइमरी स्कूल में पढ़ने गये। फिर लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में भरती हुए। वहाँ से मेट्रिकुलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इन्हीं दिनों असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो गया था। भगतसिह ने भी देश की पुकार सुनी और सरकारी सहायता से चलने वाला स्कूल छोड़ दिया। अब वह लाहौर के राष्ट्रीय महाविद्यालय में पढ़ने लगे।

राष्ट्रीय महाविद्यालय में पढ़ते समय भगतसिंह विप्लववाद की ओर खिंचे। उनका सम्बन्ध वहीं सुखदेव, भगवती चरण आदि विप्लववादियों से हो गया। उन्हीं दिनों उनके विवाह की बातचीत भी पक्की हो गयी थी। वह गृहस्थी में फँस कर अपना जीवन गँवाना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने घर छोड़ दिया। लाहौर से भाग कर वे कानपुर पहुँचे। वहाँ के विख्यात राष्ट्रीय नेता और प्रसिद्ध पत्र प्रताप के सम्पादक गणेश शङ्कर विद्यार्थी से मिले। विद्यार्थी जी स्वयं तो गांधी-वादी थे, किन्तु राष्ट्र के उद्धार के लिए जो कोई भी कार्य करता उसकी सहायता करने में कुछ उठा न रखते। अब भगतसिंह ने अपना नाम बदल कर बलवन्त रख लिया। बलवन्त सिंह खुल-

कर प्रताप में काम करने लगे। कानपुर में ही उनसे बटुकेश्वर दत्त से मित्रता हुई। यह उनके साथ ऊपर लिखे हुए एसेंबली भवन में बम फेंकते समय थे। भगतसिंह सन् १९२३ में क्रान्तिकारी 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' (भारत प्रजातन्त्र सङ्घ) के सदस्य हो गये। उन्होंने कानपुर में योगेशचन्द्र चटर्जी की देखरेख में काम करना आरम्भ किया। सन् १९२४ में गङ्गा में भयङ्कर बाढ़ आयी। बलवन्त और बटुकेश्वर ने बड़े उत्साह से उस समय लोगों की सहायता की। कुछ दिनों के बाद अपनी माता की बीमारी का समाचार सुन कर भगतसिंह घर चले गये। वहाँ से बेलगाँव कांग्रेस गये। फिर बलवन्तसिंह नाम से अमृतसर के 'अकाली' का सम्पादन किया। कुछ दिनों के पश्चात् उन्होंने किर्ती (अर्थात् मजदूर) का भी सम्पादन किया।

सन् १९२६ में पंजाब में क्रान्तिकारी दल का सङ्गठन होने लगा। भगतसिंह भी उसमें सम्मिलित हो गये। कुछ समय के बाद भारत में 'साइमन आयोग' आया। ३० अक्टूबर सन् १९२८ को यह आयोग लाहौर पहुँचा। सारा शहर साइमन का बहिष्कार करने के लिए उमड़ पड़ा। लाला लाजपत राय उस अपार जनराशि के आगे थे। अधिकारियों ने भीड़ को हट जाने का आदेश दिया किन्तु वह टस से मस न हुई। तब पुलिस उसपर टूट पड़ी। आहत जनता अहिंसा का पालन कर रही थी। उसने अपने प्यारे नेता लालाजी को पिटते और चोट खा कर गिरते देखा। पुलिस सुपरिंटेंडेंट स्कॉट और उसका सहायक सांडर्स यह अत्याचार करा रहे थे। सत्रह दिन पीछे

लालाजी की मृत्यु हो गयी। सारा देश उद्विग्न हो उठा और पंजाब के नवयुवकों ने लालाजी की हत्या का बदला लेने का निश्चय किया। भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद आदि ने स्कॉट के मारने की तैयारी की। १७ दिसम्बर सन् १९२८ को चार बजे सांडर्स पुलिस के दफ्तर से मोटर साइकिल पर बाहर निकला। सूचना देने का काम जिसे सौंपा गया था उसने समझा कि वह स्कॉट था। उसके संकेत पर शिवराम राजगुरु ने अपनी रिवाल्वर से सांडर्स पर गोली चला दी। वह घायल हो कर सड़क पर गिर पड़ा। भगतसिंह ने दौड़ कर उसपर अपनी पिस्तौल से कई गोलियाँ मारीं। फिर दोनों भाग खड़े हुए। उनका पीछा ट्राफिक इंसपेक्टर फर्न और हेड कांसटेबिल चाननसिंह ने किया। कुछ दूर बढ़ने पर फर्न भगतसिंह की गोली चलने पर जमीन पर लेट गया। अब भगतसिंह और राजगुरु डी० ए० वी० कालेज के भीतर घुसे। चाननसिंह ने उनका पीछा न छोड़ा। उसे वापस जाने को वार-बार कहा गया। जब चानन न रुका तब चन्द्रशेखर आजाद की पिस्तौल गरज उठी। चानन-सिंह वहीं छटपटाने लगा। भगतसिंह, राजगुरु और आजाद कुछ देर कालेज के छात्रावास में ठहरे। फिर बाहर निकले। साइकिलों पर चढ़ कर देखते देखते हवा हो गये।

इसके बाद ही पुलिस ने छात्रावास चारों ओर से घेर लिया। उसके कोने-कोने की तलाशी ली। लाहौर से बाहर जाने वाली सड़कों और वहाँ के स्टेशनों पर कड़ा पहरा बैठा दिया। खुफिया पुलिस प्रत्येक आते जाते व्यक्ति को देखती। दूसरे दिन 'हिन्दु-

स्तान सोसलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' के लाल परचे लाहौर की दीवारों पर चिपके देखे गये। उनमें लिखा था लालाजी का बदला लिया गया। सांडर्स मारा गया। भगतसिंह ने अपने लम्बे केश कटवा दिये। पूरा साहबी वेश धारण किया। अपने ट्रंकों और पोर्टमेटों पर भारी भरकम नाम के छपे हुए कागज चिपका दिये। साथ में सुन्दरी युवती ली। राजगुरु को अर्दली बनाया। उसके हाथ में टिफिन कैरियर दिया। इस प्रकार पूरे साहब बन भगतसिंह लाहौर से दूसरे दर्जे में चल पड़े। पुलिस देखती रह गई। उधर आजाद ने मथुरा के लिए तीर्थ यात्रियों की टोली बनायी। उसमें सब बूढ़े ही बूढ़े थे। आजाद ने उनके पुरोहित का वेश बनाया। भला पण्डित रूपधारी कभी क्रान्तिकारी समझा जा सकता है! पुलिस इन तीनों की खोज में लगी और ये आतङ्कवादियों के सङ्गठन में जुट गये। भगतसिंह ने आगरा सहारनपुर और लाहौर में बम बनाने के कारखाने खोले। इस प्रकार सन् १९२८ में सारे उत्तर भारत में क्रान्तिकारियों का सङ्गठन किया। उसका केन्द्रीय कार्यालय झांसी में रखने का निश्चय किया। अपने सङ्घ के विविध विभागों का काम विविध व्यक्तियों को सौंपा। अब बाहर से अस्त्र-शस्त्र जुटाने और उनके लिए धन एकत्र करने की योजना बनायी। धन के लिए डाका डालने का मार्ग अपनाया। शस्त्रास्त्र के लिए काबुल हो कर रूस जाने का विचार किया। परन्तु आपसी मतभेद के कारण उनको रूस जाने का विचार छोड़ना पड़ा। इसी समय साइमन आयोग के ऊपर बम फेंकने का भी प्रस्ताव आया। केन्द्रीय समिति ने अन्त में इस योजना को भी छोड़

दिया। कारण, इसके लिए बहुत धन की आवश्यकता पड़ती। तब यह निश्चय हुआ कि भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त केन्द्रीय एसेंबली में बम फेंकें। आजाद उन्हें बचा लावें। किन्तु भगतसिंह ने देश मे व्यापक जाग्रति फैलाने के विचार से आत्म-समर्पण करना अधिक उपयोगी बतलाया। दल ने इसे स्वीकार किया।

तब ८ अप्रैल सन् १९२९ को जो कुछ हुआ उसका वर्णन आरम्भ में ही किया जा चुका है। बम फेंकने के बाद अपने क्रान्तिकारी दल के उद्देश्य बतलाने के लिए उन्होंने अंग्रेजी में छपे हुए कुछ परचे भी फेंके। उसमें लिखा था कि बहरों को सुनाने के लिए धड़ाके की जरूरत है। उस समय जो अव्यवस्था हुई उसमे चाहते तो भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त निकल भागते। किन्तु उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। उनपर मुकदमा चला और उन्हें आजीवन कारावास का दण्ड मिला। इसी बीच २३ अक्टूबर सन् १९२८ को दशहरे के दिन लाहौर मे बम फट गया। जो लोग पकड़े गये उनसे पुलिस को पता लग गया कि भगतसिंह ने सांडर्स की हत्या की है। इसके अनन्तर गिरफ्तारियों का ताँता लगा। उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रमुख क्रान्तिकारी पकड़ लिये गये। 'लाहौर षडयंत्र' का इतिहास-प्रसिद्ध मुकदमा चला। भगतसिंह और उनके साथियों ने राज-नीतिक बन्दियों के समान व्यवहार की माँग की। सरकार ने उसे ठुकरा दिया। तब उन लोगों ने अनशन आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे उनकी दशा बिगड़ने लगी। उनकी नाक और मुँह के द्वारा बलात् भोज्य पदार्थ पेट में पहुँचाने की चेष्टा की गयी।

लाहौर के अतिरिक्त फीरोजपुर, मियाँवाली, बरीसाल, रामपुर आदि अन्य जेलों के राजनैतिक बन्दियों ने भी उनकी सहानुभूति में प्रायोपवेशन आरम्भ कर दिया। सारे देश में तहलका मच गया। बासठ दिन के अनशन के बाद लाहौर की बोर्स्टल जेल में यतीन्द्र नाथ दास की मृत्यु हो गयी। इससे देश भर में बड़ी उत्तेजना फैली। लाहौर षड्यंत्र के अन्य अभियुक्तों ने ११५ दिन के बाद प्रायोवेशन समाप्त किया। कुछ दिनों के अनन्तर इन लोगों पर जेल में दुर्व्यवहार हुआ। तब भगतसिंह ने ४ फरवरी १९३० को अपने साथियों के साथ फिर अनशन आरम्भ कर दिया। इस प्रकार मुकदमे में बाधा पड़ते देख भारत सरकार ने आर्डिनेंस बना कर उसे विशेष अदालत के हाथ में सौंप दिया। उधर जेल में सुधार के लिए जो कमेटी पहले ही बन चुकी थी उसने अपनी सम्मतियाँ प्रकाशित कर दीं। उनको मान कर सरकार ने राजनीतिक बन्दियों को विशेष श्रेणियों में रखने का निश्चय किया। फलतः लाहौर षड्यन्त्र के अभियुक्तों ने अनशन बन्द कर दिया। आगे चल कर ७ अक्टूबर को उन लोगों के सम्बन्ध में अदालत ने निर्णय कर दिया। भगतसिंह, शिवराम राजगुरु और सुखदेव को फाँसी का दण्ड दिया। अन्य लोगों में कुछ को आजीवन कालापानी का दण्ड, एक को सात वर्ष और एक को पाँच वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया। इस समय तक देश में इन लोगों के प्रति पूर्ण सहानुभूति उत्पन्न हो गयी थी। भगतसिंह आदि के फाँसी के दण्ड से सर्वत्र बड़ा क्षोभ हुआ। जगह जगह हड़ताल और सभाएँ हुईं। सारे देश ने वाइसराय से

विनय की कि ऐसे देशरत्नों के प्राण न लिये जायँ। उन्हें भले ही कालापानी की सजा दी जाय । इन्हीं दिनों महात्मा गाँधी और अरविन के बीच ४ मार्च सन् १९३१ को समझौता हुआ। उसके अनुसार सविनय अवज्ञा के बन्दी छोड़ दिये गये । महात्माजी ने बड़े लाट से अनुरोध किया कि भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को भी छोड़ दिया जाय । यदि छोड़ा न जाय तो उन्हें फाँसी न दी जाय। लार्ड अरविन ने इसे अनसुना कर दिया । २३ मार्च को सायंकाल जेल के भीतर से सुनायी पड़ा—

मेरा रँग दे बसन्ती चोला,
इसी रंग में रँग के शिवा ने माँ का बन्धन खोला।

भगतसिंह की यही अन्तिम वाणी थी। साढ़े सात बजे उन्हें दोनों सहकर्मियों के साथ फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया। इनक़लाब जिन्दाबाद का गगनभेदी स्वर धीरे धीरे-क्षीण हो गया। अधिकारियों ने रात में ही उन अमर शहीदों को दूर ले जा कर एकान्त में सतलज के किनारे मिट्टी के तेल की सहायता से जल्दी जल्दी जला दिया। उन्हें भय था कि कहीं फिर न जी उठें। परन्तु वे मर कर भी जी रहे हैं। और तब तक जीते रहेंगे जब तक देश में स्वतन्त्रता के पुजारियों के प्रति कृतज्ञ देशवासी श्रद्धा रखेंगे। यह श्रद्धा कभी कम न होगी । आज भगतसिंह का नश्वर शरीर भले ही न हो, किन्तु उनका नाम हमारी धमनियों में देश प्रेम के लिए मर मिटने का उत्साह-रक्त सञ्चारित कर रहा है।
